Vol. 5
No. 9
DP-10

Approved & enlisted by UGC (Sr. No. 185, J.No. 40741)

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-10

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies

Vol./ वर्ष-5 July-December 2017 No./ अंक 9

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाग् ज्योतिः
सम्पादक - दिनेशचन्द्र शास्त्री

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
July-December 2017

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Ram Prakash, Chancellor
Dr. Surendra Kumar, Vice Chancellor

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Ex-Head, Dept. of Veda, GKV,
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Advisory Board

Prof. B.L. Bharteeya, Rajasthan
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Dr. Vinod Chandra Vidyalankar, Jwalapur
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Suneel Joshi, Haridwar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Rakesh Sharma, Haridwar
Prof. Nicholas Kazanas, Athens (Greece)
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamalesh Chaukashi, Ahamedabad, Gujrat
Prof. Renubala, Amritsar
Dr. Nagendra K. Neeraj, Haridwar
Prof. Vikram Kumar Viveki, Chandigarh
Prof. Sharada Sharma, Delhi
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. R.C. Dubey, Haridwar
Prof P.C. Joshi, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna, V.C. Patanjali University
Prof. P.K. Dixit, V.C. U.S. University

Departmental Advisory Board

Prof. Roopkishor Shastri
Prof. Manudev Bandhu

Reviewers

Prof. Manoj Kumar Mishra, Delhi
Dr. S.P. Singh, Delhi

Finance Advisor

Sh. R.K. Mishra, F.O.
Sh. Shashi Kant Sharma, ACMA
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

H.O.D. Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 200.00 Annual, US $ 20,
Single Copy: Rs. 100.00
Rs. 1000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Vinod Kumar
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contect Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
July-December 2017

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed & peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate Swāmī Dayānand Sarswatī's thoughts and opinions for clearing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान–विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. वेद विषयक भ्रांतियों को दूर करने से सम्बन्धित स्वामी दयानन्द की विचारधारा को गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।

Approved & enlisted by UGC (Sr. No. 185, J.No. 40741)

ISSN : 2277-4351 RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Vol./वर्ष-5 July–December 2017 No./अंक 9

सम्पादक

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्षचर, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India

http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

इदमापः प्र वहत यत्किञ्च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्।। ऋ. 1/23/22

पदार्थः–(इदम्) आचरितम् (आपः) प्राणाः (प्र) प्रकृष्टार्थे (वहत) वहन्ति। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (यत्) यादृशम् (किञ्च) किञ्चिदपि (दुरितम्) दुष्टस्वभावानुष्ठानजनितं पापम् (मयि) कर्तरि जीवे (यत्) ईर्ष्याप्रचुरम् (वा) पक्षान्तरे (अहम्) कर्मकर्ता जीवः (अभिदुद्रोह) आभिमुख्येन द्रोहं कृतवान् (यत्) क्रोधप्रचुरम् (वा) पक्षान्तरे (शेपे) कञ्चित्साधुजनमाक्रुष्टवान् (उत) अपि (अनृतम्) असत्यमा-चरणमानभाषणं कृतवान्।।

अन्वयः–अहं यत्किञ्च मयि दुरितमस्ति यद्वा पुण्यमस्ति यच्चाहमभिदुद्रोह वा मित्रत्वमाचरितवान् यद्वा कञ्चिच्छेपेवाऽनुगृहीतवान् यदनृतं वोत सत्यं चाचरितवानस्मि तत्सर्वमिदमापो मम प्राणा मया सह प्रवहत प्राप्नुवन्ति।।

भावार्थः–मनुष्यैर्यादृशं पापं पुण्यं चाचर्य्यते तत्तदेवेश्वरव्यवस्थया प्राप्यत इति निश्चयः।।

पदार्थ–मैं (यत्) जैसा (किम्) कुछ (मयि) कर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझमें (दुरितम्) दुष्ट स्वभाव के अनुष्ठान से उत्पन्न हुआ पाप (च) वा श्रेष्ठता से उत्पन्न हुआ पुण्य (वा) अथवा (यत्) अत्यन्त क्रोध से (अभिदुद्रोह) प्रत्यक्ष किसी से द्रोह करता वा मित्रता करता (वा) अथवा (यत्) जो कुछ अत्यन्त ईर्ष्या से किसी सज्जन को (शेपे) शाप देता वा किसी को कृपादृष्टि से चाहता हुआ जो (अनृतम्) झूठ (उत) वा सत्य काम करता हूँ (इदम्) यह सब आचरण किये हुए को (आपः) मेरे प्राण मेरे साथ होके (प्रवहत) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं।।

भावार्थ–मनुष्य लोग जैसा कुछ पाप व पुण्य करते हैं, वह-वह ईश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से उनको प्राप्त कराता ही है।।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय–वैदिक साहित्य के आलोक में महाभारत–प्रोक्त विश्वामित्र मेनका कथा का रहस्य *vii*

हिन्दी संभाग

1. **मनुस्मृति और उसकी समाज व्यवस्था का मौलिक स्वरूप** 01
–डॉ. सुरेन्द्रकुमार

2. **वैदिक ऋतु विभाग** 24
–आचार्य डॉ. धर्मवीर वैदिक, दिल्ली

3. **अथर्ववेद का यथार्थस्वरूप** 30
–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

4. **व्यक्तित्त्व-विकास में चारित्रिक गुणों का योगदान : शतपथ ब्राह्मण के सन्दर्भ में** 69
–डॉ. अपर्णा धीर

5. **उपनिषदों में काव्यतत्व : छन्द योजना** 79
–डॉ. मोनिका मिश्रा

6. **वैदिक वाङ्मय में वैश्विक समस्याओं का समाधान** 84
–डॉ. अनुभा जैन

7. **विश्व शांति हेतु वैदिक जीवन-मूल्य** 89
–डॉ. कामना जैन

8. **वर्तमान युग की चिकित्सा-पद्धति : योग एवं आयुर्वेद** 96
–डॉ. ईश्वर भारद्वाज, डॉ. ऊधम सिंह

9. **यम-नियम एवं भावना चतुष्टय का सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में महत्त्व** 104
–डॉ. बबीता शर्मा, मीरा त्यागी

10. **विश्व शान्ति में योग की भूमिका** 113
–डॉ. योगेश्वर दत्त

संस्कृत सम्भागः

11. **नाट्यविद्यायां वैदिकी भूमिका** 119
–डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी

English Section

12. Dharma and spiritual path versus religion 126
-Karel Kamlanand

13. Causal Genesis & Celestial Beings 131
A study in Vedas (Part-I)
- Siddhartha A. Bhargava &
- Prof. Dinesh Chandra Shastri

14. Vedic Literature: A Brief Survey 147
-Prof. Shashi Tiwari (Retd.)

15. Book - Review 161
-Prof. Soma Basu

16. List of Researches on Vedic-Subjects Conducted by Different Universities/Institutions **167**
-Premprakash Lal (Research Scholar)

17. **पत्र एवं सम्मतियां** **191**

✦✦✦

सम्पादकीय–

आर्ष दृष्टि के झरोखे से.......

वैदिक साहित्य के आलोक में महाभारत-प्रोक्त विश्वामित्र-मेनका कथा का रहस्य

भारतवर्ष ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों की धरती रहा है। अपने ज्ञानविज्ञान भण्डार के लिये यह विश्व का गुरु बन कर रहा है। यहां के मनस्वी महापुरुषों का तप और संयम से पूर्ण जीवन विश्वभर के लिए आदर्श रहा है।

समय के परिवर्तन के साथ सामान्यजन की मानसिकता में गिरावट आई। महापुरुषों के उज्ज्वल चरित्र पर कलंक के धब्बे लगा दिये गये। ऐसा कार्य करने वाले लोग निश्चित रूप से ज्ञान सम्पन्न थे। पुराणों में अनेक ऐसी कथाएं भर दी गयीं जो अविश्वसनीय लगती हैं। अविश्वसनीय लगने के साथ ही साथ महापुरुषों के चरित्र पर कीचड़ उछालने वाली भी लगती हैं। ऐसी कुछ कथाएं महाभारत में भी प्रक्षिप्त अंशों के रूप में समाहित कर दी गयीं। जिनको पढ़कर मन उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। बुद्धि–अर्थात् निश्चयात्मक अन्तःकरण वृत्ति कहती कि और गहरायी तक जाने का प्रयास करो। शायद कुछ छिपे हुए रहस्यों का पता चले। विश्वामित्र–मेनका का प्रसंग भी ऐसा ही है। उनकी कथा दुराचार की भूल करने वालों के लिये एक उदाहरण बन गयी है। पहली बार भूल करने वालों का बचाव करने वाले प्रायः कह देते हैं––जब विश्वामित्र जैसे तपस्वी से ऐसा कार्य हो गया तो, सामान्य व्यक्ति से ऐसी भूल होना बड़ी बात नहीं। पहली भूल की क्षमा– याचना का अस्त्र बन गयी है यह कथा। गहन चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि इस कथा का रहस्य ही कुछ और है। इससे विश्वामित्र ऋषि की निर्दुष्टता, निष्कलंकता और पूर्ण तपस्विता का भान होता है।

महाभारत के आदि पर्व, अध्याय 72 में शकुन्तलोपाख्यान अर्थात् दुष्यन्त और शकुन्तला की एक कथा आती है, जो कि इस प्रकार है–

एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम्।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह॥

अथापश्यद् वरारोहा तपसा दग्धकिल्विषम्।
विश्वामित्रं तप्यमानं मेनका भीरुराश्रमे॥

अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडद् ऋषि संनिधौ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसन्निभम्॥

साऽगच्छत् त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिप्सती।
स्मयमानेव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी॥

पश्यतस्तत्र तत्रर्षेरप्यग्निसम्तेजसः।
विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम्॥

गृद्धां वाससि संभ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः।
अनिर्देश्य वयोरुपामपश्यद् विवृतां तदा॥

तस्या रूपगुणान्दृष्ट्वा स तु विप्रऋषभस्तदा।
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः॥

न्यमन्त्रयत चाप्येनां चाप्यैछदनिन्दिता।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा॥

रममाणौ यथाकामं यथा एकदिवसं तथा।
जानयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम्॥

प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम्।
जातमुत्सुज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु॥

कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम्।
तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले॥

दृष्ट्वा शयानं शकुनाःसमन्तात् पर्यवारयन्।
नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः॥

पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजां।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमां॥

निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारितम्।
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम्॥

शरीरकृत्प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने॥

निर्जने तु वने यस्मात् शकुन्तैःपरिवारिता।
शकुन्तलेति नामास्याःकृतं चापि ततो मया॥

एवं दुहितरं विद्धि मम विप्र शकुन्तलाम्।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता॥

(महाभारत, आदिपर्व, भारतभावदीप नामक 72वां अध्याय/शकुन्तला उपाख्यान)

महाभारत के उपरोक्त शकुन्तलोपाख्यान के श्लोकों का भाव यह है कि ऋषि विश्वामित्र की तपस्या से चिन्तित होकर इन्द्र ने मेनका नामक अप्सरा को विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिये भेजा। मेनका ने पृथ्वी पर आकर ऋषि की तपस्या भंग की। परिणामस्वरूप, मेनका ने एक कन्या को जन्म दिया। हिमालय के रमणीय शिखर पर मालिनी नदी के किनारे उस कन्या को तुरन्त छोड़कर वह इन्द्रलोक में लौट गयी। सिंहों और व्याघ्रों से भरे उस निर्जन वन में अकेली कन्या को सोते देख शकुन्तों (पक्षियों) ने उसे सब ओर से पंखों से ढ़क कर उसकी रक्षा की। महर्षि कण्व को वहां आया देख पक्षियों ने उनसे कहा कि यह विश्वामित्र की कन्या आपकी धरोहर के रूप में आई है। आप इसका पालन पोषण कीजिए। शकुन्तों से रक्षित होने के कारण महर्षि कण्व ने अपनी पालिता पुत्री का नाम शकुन्तला रखा।

एक बार राजा दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में गए। शकुन्तला के सुन्दर रूप और स्वभाव ने राजा को आकर्षित किया। महर्षि कण्व उस समय फल लाने के लिये आश्रम से बाहर गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति में ही दुष्यन्त शकुन्तला ने गान्धर्व विवाह कर लिया। जाने से पूर्व राजा ने शकुन्तला को आश्वासन दिया कि मैं तुम्हें अपने पास बुला लूंगा। राजा के जाने के दो घड़ी पश्चात् कण्व भी अपने आश्रम लौट आये। तीन वर्ष का समय बीतने पर शकुन्तला ने एक पुत्र को जन्म दिया। छह वर्ष की अवस्था में उस बालक के पराक्रमी क्षत्रियों जैसे कार्यों को देखकर उसका नाम सर्वदमन रखा गया। बालक के 12 वर्ष के होने पर, कण्व ऋषि के चिन्तन करने पर सभी विद्यायें उस पर प्रकाशित हो गयी। तब महर्षि कण्व ने सोचा कि इसका युवराज पद पर अभिषिक्त होने का समय आ गया है। सदा ही चिन्ता में मग्न रहने वाली शकुन्तला को उन्होंने अपने शिष्यों व सर्वदमन के साथ दुष्यन्त के राजमहल में भेज दिया। राजमहल में पहुंचकर शिष्यों ने महर्षि का सन्देश राजा को सुनाया और आश्रम वापस चले गये।

शकुन्तला ने पिता और पुत्र का परिचय कराया। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला को झूठी और व्यभिचारिणी कहा। उसकी माता मेनका को वेश्या और क्रूरहृदया तक

कहा। शकुन्तला ने अपने आपको सदाचारिणी पत्नी सिद्ध करने के अनेक प्रयास किये। सभी प्रयास और तर्क व्यर्थ जाते देख शकुन्तला वहां से जाने के लिये उद्यत हुई। तभी वहां उपस्थित सम्मान योग्य व्यक्तियों से घिरे दुष्यन्त को सम्बोधित करते हुए आकाशवाणी हुई। उस आकाशवाणी को सुनकर दुष्यन्त ने सर्वदमन सहित शकुन्तला को स्वीकार किया और कहा कि मैंने तुम्हारे साथ जो विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था उसे साधारण जनता नहीं जानती थी। अतः तुम्हारी शुद्धि के लिये मैंने यह उपाय सोचा था। दुष्यन्त ने उसे पतिव्रता मानते हुए उससे क्षमा याचना की। दुष्यन्त के ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य तथा मन्त्रियों ने दुष्यन्त के द्वारा भरण-पोषण किये जाने के कारण सर्वदमन को भरत नाम दिया। तभी से सर्वदमन भरत कहलाया।

उक्त दुष्यन्त-शकुन्तला की यह कथा अनेक शंकाओं, विप्रतिपत्तियों को जन्म देती है-

1. इस संसार में प्रकृति के नियम आज भी वैसे ही हैं जैसे आदि सृष्टि में थे। पृथ्वी आज भी गोल ही है। वह सूर्य के चारों ओर आज भी चक्कर काटती है। चन्द्रमा आज भी अपना प्रकाश सूर्य से ही प्राप्त करता है। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य तत्त्व भी अपने-अपने नियमों में बंधकर ही क्रियाशील हैं।

   आज के वैज्ञानिक अभी तक आकाश में किसी इन्द्रलोक के होने के प्रमाण नहीं जुटा पाये। यदि उस समय अप्सरायें इन्द्रलोक से धरती पर आकर पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करती थीं तो उन्हें अब भी वैसा करना चाहिए। परन्तु बिना किसी विशेष कारण के ऐसा न होना इस विषय को अविश्वसनीय बना देता है। इतना ही नहीं, सजातीय प्राणियों के संगम से ही सन्तानोत्पत्ति और वंशवृद्धि प्रकृतिसिद्ध है। इन्द्रलोक और मर्त्यलोक के प्राणियों के मिलने से सन्तानोत्पत्ति और वंशवृद्धि प्रकृतिविरुद्ध है। अतः इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि शकुन्तला, मर्त्यलोक के ऋषि विश्वामित्र और इन्द्रलोक से आयी मेनका नामक अप्सरा के मिलन का ही परिणाम थी।

2. मेनका को इन्द्रलोक से भेजा इन्द्र देवता ने। भेजने का उद्देश्य मर्त्यलोक के प्राणियों का हित करना नहीं था, बल्कि तपस्यारत ऋषि की तपस्या को भंग करना था जिससे कि वह इन्द्र पद को प्राप्त न कर ले। जिसके चरित्र में ईर्ष्या, पदलोलुपता आदि अवगुण हों ऐसा प्राणी तो मर्त्यलोक में कलियुग का ही कोई मानव हो सकता है। भला देवताओं का देव इन्द्र कैसे कहला सकता है?

3. ऋषि विश्वामित्र का, उनके माता-पिता का परिचय यहां भी वैसा ही मिलता है, जैसा राम लक्ष्मण के समय के विश्वामित्र का। श्री रामचन्द्र जी का समय तब था जब त्रेतायुग समाप्ति की ओर अग्रसर था, जैसा कि उल्लेख मिलता है-

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात्।
रामं दशरथिं प्राप्य सान्वयं क्षयमियवान्।।

शकुन्तला दुष्यन्त का समय तब था जब द्वापर युग समाप्ति की ओर अग्रसर था। क्या कोई प्राणी इतने वर्षों तक जीवित रह सकता है? यदि विश्वामित्र त्रेतायुग के अन्तिम काल से लेकर द्वापर युग के अन्तिम काल तक विद्यमान थे तो उन्हें अब भी विद्यमान होना चाहिए।

4. कितनी विचित्र बात है कि पक्षियों ने शकुन्तला के पिता को भी जान लिया। माता जन्म देती है, अतः उसकी जानकारी होना कठिन नहीं किन्तु पिता को भी जान लेना अविश्वसनीय-सा लगता है। एक बात और। जब कण्व ऋषि ने बालिका के जन्म की बात जान ही ली थी तब उसे विश्वामित्र को ही क्यों नहीं सौंप आए? यदि विश्वामित्र वनवासी ऋषि थे तो घर गृहस्थी वाले कण्व ऋषि भी नहीं थे। विश्वामित्र की धरोहर को लौटाने का विचार उन्हें क्यों नहीं आया?

5. मेनका ने एक कन्या को जन्म दिया और उसे हिमालय के शिखर पर मालिनी नदी के तट पर तुरन्त त्याग कर वह इन्द्रलोक चली गयी। दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर थी। यह स्थान तो वर्तमान उत्तर प्रदेश के जिला मेरठ के पास है, हिमालय क्षेत्र में नहीं।

दुष्यन्त हिंसक पशुओं का पीछे करते-करते वहां तक चले गए जहाँ शकुन्तला थी। क्या दुष्यन्त का राज्य जंगली प्रदेशों से भरा था जो वह हिंसक पशुओं का पीछा करते हस्तिनापुर से हिमालय के शिखर के पास पहुंच गए। इतना ही नहीं एक बात और है कि महर्षि कण्व शकुन्तला को अपने शिष्यों और सर्वदमन के साथ हस्तिनापुर के लिये पैदल ही भेजते हैं। यह बात भी कुछ अटपटी-सी लगती है कि मात्र बारह वर्ष के बालक को भी इतनी दूर पैदल यात्रा के लिये भेज दिया गया।

6. कथा में कहा गया है कि दुष्यन्त के चले जाने के तीन वर्ष बीत जाने पर शकुन्तला ने एक पुत्र को जन्म दिया। क्या कोई स्त्री अपने गर्भस्थ शिशु को तीन वर्ष तक जन्म लेने से रोक सकती है? दुष्यन्त के बुलावे की प्रतीक्षा

में यदि वह उसे तीन वर्ष तक रोक सकती थी तो तब तक भी रोक सकती थी, जब तक वह अपने पति के पास न पहुंच जाती। एक बात और। यदि द्वापरयुग की नारी गर्भस्थ सन्तान को तीन वर्षों तक जन्म लेने से रोक सकती थी तो आज की नारी में भी यह सामर्थ्य होना चाहिए। उपर्युक्त सभी शंकाओं का समाधान ढूंढने के लिए हम इस कथानक में आए कुछ प्रमुख पदों(शब्दों) पर विचार करते हैं।

1. **इन्द्र**—सबसे पहले हम लेते हैं इन्द्र शब्द को। महाभारत तथा पुराणों के कथानकों में इन्द्र को वर्षा का देवता कहा गया है। इन्द्र का अपना एक लोक है जहां सुन्दर, नितयौवना, आकर्षक तथा इन्द्र की सहायता करने वाली अनेक अप्सरायें रहती हैं। पुराणों का इन्द्र अपने पद और आसन को अपने लिये सुरक्षित रखने के लिये किसी भी प्रकार का उचित-अनुचित मार्ग अपना सकता है।

2. **विश्वामित्र**—इन्द्र के पश्चात् हम लेते हैं विश्वामित्र शब्द को। महाभारत तथा पुराणों के विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे किन्तु तपस्या के बल पर उन्होंने ऋषि पद प्राप्त कर लिया। इनका उल्लेख सत्ययुग से लेकर द्वापर युग तक मिलता है। सभी स्थानों पर ऋषि विश्वामित्र में अन्य ऋषियों जैसे व्यवहार के अतिरिक्त राजाओं जैसी राजसिक मानसिकता भी दिखायी देती है।

3. **अप्सरा**—उक्त दोनों शब्दों के पश्चात् अप्सरा शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। पुराणों तथा महाभारत की अप्सराऐं इन्द्रलोक के नन्दनवन में विचरण करती रहती हैं। ये नितयौवना, सुन्दर, आकर्षक तथा नृत्य में प्रवीण होती हैं। प्राय: इनका प्रयोग इन्द्र द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये किया जाता है। ये मर्त्यलोक में इन्द्र के आदेश से आती हैं। प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर पुन: इन्द्रलोक में लौट जाया करती हैं। उर्वशी, मेनका तथा रम्भा इन्द्रलोक की प्रसिद्ध अप्सरायें हैं।

4. **मेनका**—उक्त सभी शब्दों के बाद मेनका शब्द को लेते हैं। महाभारत तथा पुराणों में इसे एक बुद्धिमती अप्सरा बताया गया है। तपस्या में रत विश्वामित्र द्वारा इन्द्र पद की प्राप्ति की सम्भावना को देखते हुए इन्द्र इसे विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिये मर्त्यलोक में भेजता है। मेनका विश्वामित्र की तपस्या भंग करने में सफल हो जाती है। एक पुत्री को जन्म देकर वह तुरन्त इन्द्रलोक में लौट जाती है।

अब हम विचार करते हैं इन्हीं शब्दों के उन अर्थों पर जो हमें वैदिक साहित्य में मिलते हैं। वैसे तो वहां भी प्रसंग के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में इनका प्रयोग मिलता है किन्तु यहां हम केवल उन्हीं अर्थों को ही लेंगे जो प्रस्तुत प्रसंग में उचित लगते हैं।

सबसे प्रथम लेते हैं **इन्द्र** शब्द को। वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग परमात्मा के लिये बहुतायत में मिलता है। परमात्मा के अतिरिक्त सूर्य के अर्थ में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है।

इन्द्र के पश्चात् हम आते हैं विश्वामित्र शब्द पर। सामान्य रूप से इसका शाब्दिक अर्थ होता है-"सबका मित्र"। यहां उपर्युक्त कथा के अनुरूप विश्वामित्र शब्द का अर्थ है-***"सबसे मित्रता का हेतु"***। शतपथकार ने भी इसी अर्थ को इंगित करते हुए लिखा है-श्रोत्रं वै विश्वामित्र **ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोति** अथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्मात् श्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः (8.1.2.6)। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में इसी अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है-

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रं सौवं शरत्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऐड मैडान्मन्थी मन्थिन एकविंश एकविंशद्वैराजं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापति गृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः।।13/57

उक्त मन्त्र पर महीधर ने सायणभाष्य को उद्धृत करते हुए लिखा है-**"विश्वामित्रः ऋषिः विश्वं सर्वं मित्रं येन *'मित्रे चर्षौ'* पा.6.3.130 इति दीर्घः। तादृशः ऋषिःश्रोत्रं श्रद्धया न्यवाक्य श्रवणात्सर्वमित्रं भवति विश्वमित्रर्षिरूपं यत् श्रोत्रं तद्रूपां-सायणः।"**

उपरोक्त शृंखला में इन्द्र और विश्वामित्र के पश्चात् अप्सरा शब्द आता है। निरुक्त के अनुसार 'अप्स' शब्द से मतुप् अर्थ में 'र्' प्रत्यय तथा स्त्रीवाचक टाप् (आ) प्रत्यय लगाकर 'अप्सरा' शब्द बना है। वहां इसके दो अर्थ दिये गये हैं-1) रूपवती, 2) व्याप्त होने वाली। रूपवती अर्थ के लिये निरुक्त में काठक संहिता में से 9/4/11 का सन्दर्भ दिया गया है। *'व्याप्त होने वाली'* अर्थ के लिये यजुर्वेद के 14.4 का उद्धरण दिया गया है। दोनों ही अर्थों में अप्सरा का प्रयोग नारी और विद्युत् के लिये बताया गया है।

प्रस्तुत कथा के अनुरूप 'मेनका' शब्द का प्रयोग हमें यजुर्वेद के 15.16 में मिलता है। वहां इसका अर्थ है, सूर्य की वह किरण जिससे मनन किया जाये। पूरा मन्त्र इस प्रकार है-

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथ-
स्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ।

मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती
रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽस्तु ते नोऽवन्तु ते नो
मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥

उपर्युक्त चारों शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थ नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जायेंगे-

शब्द	**पुराणों में अर्थ**	**वैदिक साहित्य में अर्थ**
इन्द्र	वर्षा और इन्द्रलोक का देवता	1. परमात्मा, 2. सूर्य
विश्वामित्र	एक ऋषि	1. सभी का मित्र, 2. सभी से मित्रता का हेतु
अप्सरा	इन्द्रलोक की अप्सराएं	1. रूपवती, 2. व्याप्त होने वाली (दोनों ही अर्थ में नारी और विद्युत् के लिए)
मेनका	इन्द्रलोक की एक प्रसिद्ध अप्सरा	सूर्य की वह किरण जिस से मनन किया जाये।

अब विचार करते हैं महाभारत में आये इस कथानक से उपजी शंकाओं और वैदिक दृष्टि से उनके सम्भावित समाधानों पर।

इन्द्र के विषय में यह कहा जा सकता है कि सूर्य ही इन्द्र है और सूर्यलोक ही इन्द्रलोक है। वर्षा का प्रमुख कारण भी सूर्य नामक इन्द्र ही है। सूर्य की किरणें ही इन्द्र की अप्सरायें हैं। उन अप्सराओं में से एक अप्सरा है 'मेनका'। मेनका का कार्य है मननशील बनाना।

वास्तव में इस कथा का सम्बन्ध द्वापर युग के राजा दुष्यन्त – शकुन्तला विवाह के अतिरिक्त सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न प्रथम मानव सन्तति से भी है। इस प्रकार इस प्रसंग की रूपरेखा यूं उभर कर सामने आती है---

इन्द्र (परमेश्वर) ने इन्द्र (सूर्य) के माध्यम से सूर्य की, मेनका नामक किरण को, सबके मित्र ब्राह्मणवर्ग अथवा विश्वामित्र नाम के किसी ऋषि के पास भेजा कि तुम जाकर उन्हें प्रभावित करो। मेनका विश्वामित्र के पास गयी और उसे मननशील बनाया कि तुम्हारा इस प्रकार तपोनिष्ठ बने रहना विश्व को हानि पहुंचा सकता है। तुम्हें सन्तान उत्पन्न करने के विषय में भी कुछ करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं हुआ तो असुरों और दानवों की वंशवृद्धि होती रहेगी। मान्यता है कि सत्ययुग में अधिकांश ऐसी आत्माऐं शरीर धारण करके आती हैं, जिन्होंने अपने पूर्व जन्मों में पुण्य कर्म संचित किए होते हैं।

ब्राह्मणवर्ग के सन्तानोत्पत्ति के प्रति उदासीन रहने के कारण, सत्ययुग में कलियुग का वातावरण उपस्थित हो सकता है, इसी आशंका से विश्वामित्र ने मेनका की प्रेरणा को स्वीकार कर लिया। मेनका नामक किरण द्वारा विश्वामित्र के मस्तिष्क को मननशील बनाने वाली तरंगों से स्पन्दित करना ही, मेनका का नृत्य आदि भाव भंगिमाओं से विश्वामित्र को अपनी ओर आकर्षित करना है। ऋषि विश्वामित्र का मेनका नामक किरण के सम्पर्क में आना ही प्रथम मानव सन्तति के जन्म का कारण बना।

प्रथम सन्तति के जन्म के समय मानव दम्पती सन्तान की रक्षा तथा पालन पोषण के विषय में अनुभव शून्य थे। वे नहीं जानते थे कि कहां-कहां से क्या-क्या जुटाया जा सकता है? ऐसे समय में आसपास रहने वाले पक्षियों ने नवजात शिशु की सुरक्षा और पालन पोषण की व्यवस्था की। पक्षियों द्वारा रक्षित होने के कारण हम प्रथम मानव सन्तति को भी शकुन्तला नाम दे सकते हैं।

इस प्रकार यह ***निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मेनका अप्सरा वास्तव में सूर्य की एक किरण ही है। तभी तो वह अपना कार्य करती है और तुरन्त इन्द्रलोक में लौट जाती है। मेनका का कार्य था मननशीलता को जगाना। मननशीलता उत्पन्न होते ही, अपनी सन्तान (मननशीलता) को विश्वामित्र के पास छोड़कर वह अपने लोक (सूर्यलोक) में चली गयी।*** यह बात महाभारत में आए शकुन्तला के उस कथन से भी सिद्ध होती है जहाँ वह राज्यसभा में कहती है:- ***'राजेन्द्र, आप केवल पृथ्वी पर घूमते हैं, किन्तु मैं आकाश में भी चल सकती हूँ।'*** निश्चित रूप से इसके रचनाकार ने यह बात मानवी शकुन्तला के लिये नहीं कही, अपितु मेनका किरण की सन्तान मननशीलता के लिए कही है। मन के भाव अति सूक्ष्म होने के कारण पृथ्वी लोक के अतिरिक्त अन्तरिक्ष लोक में भी विचरण कर सकते हैं।

मेनका को किरण सिद्ध करने वाला एक और अन्तःसाक्ष्य है जिसमें इन्द्र के कार्य को पूरा करने के लिये मेनका चाहती है कि इस कार्य में वायु देव भी उसकी सहायता करें। वास्तव में सूर्य की किरणों को देशान्तर में पहुंचाने वाला त्रित नामक वायु है। इसी त्रित के माध्यम से सूर्य का प्रकाश हम तक पहुंचता है। यह त्रित सर्वत्र फैला हुआ है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि यहां वायु की सहायता से कार्य करने वाली सूर्य की किरण की ही बात कही गयी है। यह आदि मानव सृष्टि के विकास से सम्बन्धित है।

इस कथा के आदि मानव सृष्टि के विकास से सम्बन्धित होने की पुष्टि महाभारत में आये इस श्लोक से भी होती है-

हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकं।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत्।

इसमें मेनका कहती है:-हे सुरश्रेष्ठ अग्नि जिनका मुख है, सूर्य और चन्द्रमा जिनकी आंख के तारे हैं और काल जिनकी जिह्वा है, उन तेजस्वी ऋषि को मेरे जैसी नारी कैसे छू सकती है? इससे भी स्पष्ट होता है कि यहां उल्लिखित ऋषि विश्वामित्र कोई मानव नहीं है। सूर्य और चन्द्रमा किसी महान् से महान् पुरुष की भी आंखों के तारे नहीं हो सकते। कोई भी मनुष्य अपनी जिह्वा मात्र से किसी को काल का ग्रास नहीं बना सकता। तो फिर इसका रहस्य क्या है? इसका रहस्य समझने के लिये हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में क्या लिखा है?

सृष्टि-विद्या विषय पर वेदों से उद्धृत मन्त्र:-

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।। यजु. 30/5

इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं:-विराट्, जिसका ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूल प्रकृति भी कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य चन्द्रमा नेत्र स्थानी हैं, वायु जिनका प्राण और पृथ्वी जिसका पग है, इत्यादि लक्षण वाला जो आकाश है, सो विराट् कहाता है। इस प्रकार महाभारतकार ने "हुताशनमुखं" श्लोक में इसी मूल प्रकृति को ही विश्वामित्र कहा है।

हम सभी जानते हैं कि मूलप्रकृति विश्वा अर्थात् सभी की मित्र है। इसका मुख अग्नि है, सूर्य चन्द्रमा इसी के ही अलंकार रूप में नेत्र हैं। वास्तव में प्रथम मानवी सन्तति इसी मूल प्रकृति नामक विश्वामित्र की ही धरोहर है। यह धरोहर देहावसान के पश्चात् ही पांच तत्त्वों में लौटती है, जीते जी नहीं। यही कारण है कि महर्षि कण्व ने विश्वामित्र की धरोहर को स्वीकार कर लिया, उसका पालन पोषण किया, उसे भलीभांति संस्कारित भी किया। किन्तु धरोहर की भांति लौटाने की बात नहीं की। इतना कुछ समझ लेने पर प्रथम चार शंकाओं के उत्तर हमें स्वयं ही मिल जाते हैं।

पांचवी शंका का समाधान भी इसी धारणा से होता है कि इस कथा का सम्बन्ध केवल द्वापर की शकुन्तला से ही नहीं, अपितु आदिसृष्टि में जन्म लेने वाली प्रथम मानव सन्तति से भी है। दुष्यन्त के राज्य की राजधानी हस्तिनापुर थी। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन जहां हुआ होगा वह हरियाणा, दिल्ली अथवा उत्तर प्रदेश के आसपास का क्षेत्र ही रहा होगा। वर्तमान में कोटद्वार जो कि उत्तराखण्ड

प्रदेश का एक शहर है, के पास मालिनी नदी के पास एक कण्वाश्रम नाम से संस्था है जो यह दावा करती है कि यही वह स्थान है जहां कभी महर्षि कण्व रहते थे। और यह स्थान वर्तमान हस्तिनापुर से बहुत दूर नहीं कहा जा सकता। कथा के अनुसार कण्व ऋषि को पक्षियों ने ऋषि विश्वामित्र की धरोहर हिमालय के शिखर पर मालिनी नदी के किनारे सौंपी। प्रथम मानव सन्तति का सम्बन्ध हिमालय क्षेत्र से ही रहा होगा। मानव सृष्टि का प्रादुर्भाव स्थल हिमालय और तिब्बत का क्षेत्र ही माना जाता है। इसके लिए अनेक विद्वानों ने अनेक प्रमाण दिए हैं। इस प्रकार पांचवी शंका का भी समाधान हो जाता है।

छठी और अन्तिम शंका के समाधान के लिए कहा जा सकता है कि कोई भी कन्या रजस्वला हो जाने पर गर्भ धारण करने में समर्थ मानी जा सकती है। किन्तु 36 बार रजोदर्शन करने के पश्चात् ही उसका गर्भ धारण करना उचित माना जाता है। शकुन्तला को भी यही कहना अभीष्ट रहा होगा कि गर्भधारण करने में समर्थ होने पर भी उसने तीन वर्ष का संयम रखा। इस प्रसंग को आकर्षक और चटपटा बनाने वालों ने तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत कर दिया। ऊपर दिए गए तर्कों के आधार पर विश्वामित्र, मेनका और शकुन्तला की कथा से उत्पन्न समस्त शंकाओं का समाधान हो जाता है। सभी रहस्यों पर पडा पर्दा हट जाता है। सभी कुछ स्वाभाविक तथा विश्वसनीय लगने लगता है। अब संसार में ऐसी वैसी भूल होने पर यह नहीं कहना पडेगा कि जब तपस्वी ऋषि विश्वामित्र ऐसी भूल कर सकते हैं तो हम तो साधारण मानव हैं। इस प्रकार एक तेजस्वी ऋषि पर लगा अनुचित कलंक धुल जायेगा।

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

जब संसार से विरक्त ऋषि संसार को छोड़ छोड़कर निवृत्ति पथ में अरण्य की ओर जाने की तैयारी करने लगे; तब मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि=मार्गदर्शक=आप्त कौन रहेगा? वेद ज्ञान का उपदेश कौन करेगा? तब उन्होंने उनको **तर्क ऋषि** दिया और कहा कि यह तुम्हारे लिए मन्त्रार्थ की चिन्ता किया करेगा। तब से ही जो ऋषि जिस मन्त्र के ऊपर अभ्यूहना करता है उस मन्त्र का वही आर्ष कहलाया जाता है। (निरुक्त परिशिष्ट, अध्याय 2.12)

मनुस्मृति और उसकी समाज व्यवस्था का मौलिक स्वरूप

(ऋषि दयानन्द, वैदिक परम्परा, अन्तःसाक्ष्य एवं डॉ. अम्बेडकर के तुलनात्मक संदर्भ में)

–डॉ. सुरेन्द्रकुमार

कुलपति

गु.कां.वि.वि., हरिद्वार

नवजागरण के पुरोधा, क्रान्तिकारी समाजसुधारक और वैदिक वाङ्मय के यथार्थ व्याख्याता ऋषि दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन, यदि किसी एक ही शब्द से किया जाये, तो मेरे विचार से वह शब्द है–'सत्य'। उन्होंने सत्य की खोज के लिए घर को त्यागा, सत्य को जाना, सत्य को माना, अपने उपदेशों में सत्य का प्रचार-प्रसार किया, अपने ग्रन्थों में सत्य का प्रकाश किया, वे सत्य के लिए जीये और सत्य के लिए शहीद हुए। अपने समय में महात्मा बुद्ध ने सामाजिक सुधार की क्रान्ति का सूत्रपात किया, किन्तु वे वैदिक वाङ्मय के विद्वान् नहीं थे। सन्त कबीर ने समाजसुधार के लिए जीवनभर संघर्ष किया, किन्तु उनको पढ़ने का अवसर ही नहीं दिया। ऋषि दयानन्द में विलक्षणता यह थी कि वे समाज-सुधारक के साथ वैदिक वाङ्मय के पारंगत विद्वान् भी थे। जहां उन्होंने समाज में व्याप्त जाति-पांति, ऊंच-नीच, छूत-अछूत, अज्ञान-अविद्या, अन्धविश्वास-पाखण्ड, अन्याय-अत्याचार आदि कुरीतियों को दूर किया, वहां वेदों-शास्त्रों के नाम पर फैलाई जाने वाली भ्रांतियों और उनकी आड़ में की जाने वाली विकृतियों को भी मिटाया। ऋषि दयानन्द के आविर्भाव के पश्चात् आज कोई भी व्यक्ति वेदों-शास्त्रों की आड़ में भ्रान्तियां-विकृतियां फैलाने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि उन्होंने अपने वाङ्मय में वेदों और शास्त्रों के सत्य स्वरूप को तर्क एवं प्रमाणपूर्वक उद्घाटित कर दिया है। इस शोधपत्र में, ऋषि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत मनुस्मृति और उसमें वर्णित समाजव्यवस्था विषयक मन्तव्यों का अध्ययन किया जायेगा। वैदिक परम्परा एवं इतिहास से ऋषि के मन्तव्यों की पुष्टि के साथ-साथ मेरा यह भी प्रयास रहेगा कि मनु और मनुस्मृति के घोर विरोधी समझे जाने वाले डॉ. भीमराव अम्बेडकर के उन कथनों को भी प्रस्तुत करूं जिनसे महर्षि मनु और ऋषि दयानन्द

के मन्तव्यों का अधिकांशतः समर्थन होता है। इस शोधपत्र का यह नवीन एवं रोचक पक्ष होगा।

मनुस्मृति : सर्वोच्च प्रामाणिक शास्त्र

समस्त भारतीय साहित्य में मनु स्वायंभुव को एक प्रमुख धर्मशास्त्रकार माना गया है और उनको ही 'मनुस्मृति' अथवा 'मानवधर्मशास्त्र' नामक शास्त्र का प्रवक्ता या रचयिता माना गया है। अपने आरम्भिक काल से ही, मनुस्मृति को वेदों के बाद सर्वोच्च प्रामाणिकता एवं महत्त्व प्राप्त होता आ रहा है। तैत्तिरीय संहिता और ताण्ड्य महाब्राह्मण में लगभग समानरूप से प्राप्त इस वाक्य में तो मानो मनु की प्रशंसा में 'गागर में सागर' भर दिया गया है–

"मनुर्वै यत्किञ्च अवदत् तद् भेषजम् भेषजतायै"

(ता.महा.ब्रा. 23.16.7)

"यद् वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्" (तैत्ति. सं. 2.2.10.2)

अर्थात्–'मनु ने जो कुछ कहा है वह मानवों के लिए औषध के समान कल्याणकारी है।'

ऋषि दयानन्द ने संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के इस प्रशंसा वाक्य को काशी–शास्त्रार्थ में प्रमाणरूप में उद्धृत करते हुए, न केवल मनुस्मृति को सर्वोच्च महत्त्व दिया है अपितु स्मृतिग्रन्थों में उसको ही एकमात्र आर्ष, प्रामाणिक एवं पठनीय धर्मशास्त्र माना है। वे लिखते हैं–

(क) **"मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति, तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति, न तु वेदविरुद्धानां वेदासिद्धानां चेति।"** (दयानन्द–शास्त्रार्थ संग्रह, पृ.21)

अर्थात्–'मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक ग्रन्थ हैं, इस कारण वे भी प्रामाणिक हैं। वेदविरुद्ध और वेदों से असिद्ध ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं है।'

(ख) ऋग्वेदादिभाष्य–भूमिका में **"मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् स्मृति ग्रन्थ"** अपठनीय घोषित किये हैं (ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय)। सत्यार्थ–प्रकाश के तृतीय समुल्लास में भी यही कथन है।

ऋषि ने मनुस्मृति को कितना अधिक प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण माना है, इसकी जानकारी हमें इस बात से मिलती है कि वेदों के बाद मनुस्मृति को ही उन्होंने अपने ग्रन्थों का प्रामाणिक आधार बनाया है। उनके सिद्धान्त एवं शैली मनुस्मृति के अनुसार हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनु के 514 श्लोकों या श्लोकखण्डों को एकाधिक बार उद्धृत करते हुए कुल 750 से अधिक बार प्रमाण रूप में प्रस्तुत

किया है। इतने अधिक प्रमाण अन्य किसी ग्रन्थ के नहीं है। इसके अतिरिक्त एक दर्जन से अधिक स्थलों पर मनु और मनुस्मृति का नामोल्लेख करके उन्हें धर्म, राजनीति, व्यवहार, शिक्षा, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, अनुष्ठान आदि विषय में प्रामाणिक मानने का निर्देश दिया है। इस प्रकार ऋषि का वाङ्मय एक शरीर है तो मनुस्मृति उसका प्राण है।

मेरा विश्वास है कि मनु और मनुस्मृति विषयक यदि तीन प्रश्नों का समाधान कर लिया जाये तो मनुस्मृति और उसमें वर्णित समाजव्यवस्था का मौलिक स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जायेगा। वे हैं-1. मनुस्मृति का रचयिता और उसका काल, 2. मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय, 3. मनुस्मृति में प्रक्षेपों का अस्तित्व और उनका शोध। प्रथम, मैं इन्हीं प्रश्नों का विचार प्रस्तुत करता हूं।

1. मनुस्मृति का रचयिता और उसका काल

मनुस्मृति के रचयिता और उसके काल-निर्धारण सम्बन्धी प्रश्न का समाधान आज के लेखकों को सर्वाधिक चौंकाने वाला है। कारण यह है कि वे पाश्चात्त्य लेखकों द्वारा कपोलकल्पित कालनिर्धारण के रंग में इतने रंग चुके हैं कि उन्हें परम्परागत सत्य, असत्य प्रतीत होता है और कपोलकल्पित असत्य, सत्य प्रतीत होता है। आंकड़ों के अनुसार ऋषि दयानन्द द्वारा निर्धारित और पाश्चात्त्यों द्वारा निर्धारित मनुस्मृति के काल में दिन-रात या पूर्व-पश्चिम का मतान्तर है।

परम्परागत सम्पूर्ण वैदिक एवं लौकिक भारतीय साहित्य और ऋषि दयानन्द 'मनुस्मृति' या 'मानवधर्मशास्त्र' को मूलतः मनु स्वायम्भुव-रचित मानते हैं और मनु का काल वर्तमान मानवसृष्टि का आदिकाल मानते हैं। इस प्रकार मनु की रचना होने से मनुस्मृति का काल भी वेदों के बाद वर्तमान मानव सृष्टि का आदिकाल है। वे लिखते हैं-

"एतद्देशप्रसूतस्य (मनु.2.20) यह मनुस्मृति, जो सृष्टि की आदि में हुई है, उसका प्रमाण है" (सत्यार्थप्रकाश, समु. 11)

कुछ पाश्चात्त्य लेखक और उनकी शिक्षा-दीक्षा से अनुप्राणित उनके अनुयायी आधुनिक भारतीय लेखक मनुस्मृति का रचनाकाल 185-100 ई. पूर्व, ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र शुंग के जीवनकाल में मानते हैं। यह मत प्रो. बूलर द्वारा निर्धारित है और तत्कालीन पाश्चात्त्य लेखकों द्वारा मान्य है। इस मतान्तर पर अपना निर्णय देने से पूर्व मैं यहा पाश्चात्त्यों द्वारा स्थापित मान्यताओं एवं कालनिर्धारण के मूल में उनकी मानसिकता, लक्ष्य, लेखनपद्धति एवं उसकी अप्रामाणिकता पर कुछ चर्चा विस्तार से करना अत्यावश्यक समझता हूँ।

यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक और धार्मिक निहित लक्ष्य की पूर्ति हेतु, हजारों वर्ष पुराने भारतीय इतिहास और साहित्य की घोर उपेक्षा करके केवल 150 वर्ष पूर्व, कपोलकल्पना द्वारा कुछ नयी मान्यताएं गढ़ीं और नये सिरे से एक काल्पनिक कालनिर्धारण प्रस्तुत किया। भारतीय इतिहास को अपने स्वार्थ के अनुरूप परिवर्तित, विकृत और अस्त-व्यस्त किया। भारतीय इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, ऐतिहासिक व्यक्ति प्राचीन सिद्ध न हों, इस कारण उन्हें 'माइथोलॉजी' 'मिथक' कहकर अप्रामाणिक बनाने का प्रयास किया। ***मैक्समूलर ने स्वयं स्वीकार किया है कि वैदिक साहित्य और वेद आदि का काल आनुमानिक है। आगे चलकर तो उन्होंने इनके कालनिर्धारण में असमर्थता ही प्रकट कर दी थी। फिर भी आज हम उनके कालनिर्धारण को प्रामाणिक मान रहे हैं और परम्परागत भारतीय कालनिर्धारण को अप्रामाणिक कहते हैं, जबकि तटस्थ अंग्रेज और यूरोपियन लेखकों ने उनको प्रमाणिक नहीं माना है।*** वर्तमान में प्रचलित मनु और मनुस्मृति का कालनिर्धारण (185-100 वर्ष ई.पू.) उपनिवेशवादी अंग्रेजों की ही कल्पित देन है।

वास्तविकता यह है कि ज्यों-ज्यों पुरातत्व-विज्ञान, भाषाविज्ञान, भूगोल, ज्योतिष-संबंधी नवीन खोजें हुई हैं, त्यों-त्यों उन अंग्रेज लेखकों द्वारा स्थापित मान्यताएं एक-एक करके ढही हैं और भारतीय स्थापनाओं में बहुत ही समग्र या अधिकांश में पुष्टि हुई है। अंग्रेजों और उनके अनुयायियों ने बाइबल तथा डार्विन के विकासवाद के आधार पर मनुष्य की उत्पत्ति दस हजार वर्ष पूर्व बताई थी और भारतीय साहित्य में वर्णित लाखों वर्ष पूर्व मानव के अस्तित्व विषयक संदर्भों को गप्प कहा था। आज के वैज्ञानिक दस हजार से हटकर दो लाख पूर्व तक ही मान्यता पर पहुंच गये हैं। पचास से पैंतीस हजार वर्ष पूर्व की तो ममियां भी मिल गई हैं। एक अरब सत्तानवे करोड़ के भारतीय सृष्टिसंवत् को सुनकर उसे महागप्प कहकर मखौल उड़ाया था। मैडम क्यूरी की रेडियम की खोज ने उसकी पुष्टि कर दी। अमेरिका की उपग्रह-संस्था 'नासा' ने पिछले दिनों उपग्रह के द्वारा भारत-श्रीलंका के बीच समुद्र में डूबे पुल को खोजा और उसका काल उन्नीस लाख वर्ष पूर्व निर्धारित किया। एक गणना के अनुसार, यह रामायण के काल से मिलता है। महाभारत को काल्पनिक मानने वाले लोगों को पाश्चात्य ज्योतिषी बेली ने ग्रहयुति/ज्योतिषीय आधार पर बताया कि महाभारत युद्ध 3102 ईसा पूर्व हुआ था।

महाभारत में वर्णित 'द्वारका' नगरी को पुरातत्वविद् डॉ. एस. आर. राव ने खोज निकाला। अमेरिका के मैक्सिको में मिले 'मय-सभ्यता' के अद्भुत अवशेषों ने वैदिक काल के मय वंश को प्रमाणित कर दिया। 'इंडिया इन ग्रीस' में मिस्त्र के

प्राचीन इतिहास के आधार पर बताया गया है कि वहां के निवासी हेमेटिक लोग 'मनु वोवस्वत्' (वैवस्वत) के वंशज हैं और उनके पिरामिडों में मिलने वाला सूर्यचिह्न उस आदि पुरुष का प्रतीक है। तुर्की और भारत में खुदाई में मिले वैदिक सभ्यता के सूचक विभिन्न पुरावशेषों का काल पन्द्रह हजार वर्ष ईस्वी पूर्व तक आंका गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि नवीन खोजों के सन्दर्भ में, कुछ अंग्रजों द्वारा प्रस्तुत कालनिर्धारण अर्थहीन और मूल्यहीन हो चुका है। आज वे स्थापनाएं धराशायी हो चुकी हैं। ऐसे में उनको स्वीकार करने का औचित्य ही नहीं बनता। हाँ, यह कटु सत्य है कि कुछ लोग और वर्ग अपने नकारात्मक पूर्वाग्रहों, निहित स्वार्थों और निहित सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपनिवेशवादी अंग्रेजों द्वारा कल्पित मान्यताओं एवं काल-सीमाओं को बनाए रखना चाहते हैं।

काल-निर्धारण संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के उपरान्त अब रचयिता-विषयक प्रश्न पर विचार किया जाता है। उपलब्ध 'मनुस्मृति' या 'मानव धर्मशास्त्र' मूलतः मनु स्वायंभुव द्वारा प्रोक्त अथवा रचित है। समग्र प्राचीन साहित्य में इसी मनु की एक धर्मशास्त्रकार के रूप में ख्याति है, इन्हीं के रचयिता के रूप में उल्लेख हैं। वाल्मीकि-रामायण में मनुस्मृति के कई श्लोक मनु के नाम से उद्धृत हैं। उसमें सातवें मनु वैवस्वत का विवरण है। तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ एवं यास्ककृत निरुक्त में मनु का और परवर्ती मनुओं का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ श्लोक ऐसे हैं जिनके कुछ चरण यथावत् हैं और अन्य मनु के श्लोकों के छायानुवाद हैं। तैत्तिरीय संहिता (2.2.10.2) और ताण्ड्य ब्राह्मण (23.16.7) में मनु के वचनों को औषध के समान हितकारी कहा है-**"यद् वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्"** ऐसा हम पहले लिख चुके हैं। आचार्य यास्क ने निरुक्त में मनु स्वायम्भुव के दायभाग संबंधी एक मत का उल्लेख करते हुए उनका काल विसर्ग अर्थात् वर्तमान मानवसृष्टि के आदिकाल में बतलाया है-**"मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्"** (3.4)। इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस समय तक मनु का धर्मशास्त्र बन चुका था और लेखक प्रमाण के रूप में उस मत को स्वीकार करते थे। यही काल महाभारत, पुराण एवं लौकिक संस्कृत काव्यों में वर्णित है तथा महाभारत एवं पुराणों में मनु स्वायम्भुव के नाम से सैंकड़ों श्लोकों को उद्धृत किया है जो वर्तमान मनुस्मृति में उपलब्ध हैं। वहां मनु का वंश एवं इतिहास भी वर्णित है।

पाश्चात्त्य और उनके अनुयायी लेखकों द्वारा आंकड़ों के रूप में 185-100 ई. पूर्व निर्धारित मनुस्मृति की काल सीमा तो अग्रिम एक ही प्रमाण से मिथ्या सिद्ध हो जाती है। कालिदास से पूर्व के महाकवि भास-रचित 'प्रतिमा नाटक' में रावण के

मुख द्वारा उच्चारित एक वाक्य है–"**अधीये मानवीयं धर्मशास्त्रम्**" अर्थात्– 'मैं मनु का धर्मशास्त्र पढ़ रहा हूँ।' भास के समय मानव धर्मशास्त्र था। भास का काल 500–300 ई.पू. माना जाता है। फिर मनु और मनुस्मृति को शुंग कालीन (185–100 ईसवी पूर्व की) रचना कैसे कहा जा सकता है?

कुछ लोग यहां तक तर्क उपस्थित करते हैं कि मनुस्मृति का उक्त काल उसके नवीनतम संस्करण का है। किन्तु यह तर्क भी सही चरितार्थ नहीं होता। पाश्चात्त्य लेखकों ने वैदिक ग्रन्थों की निर्धारित कालावधि में कई सदियों और सहस्राब्दियों का अन्तराल मूल और नवीनतम संस्करण में दिया है, जैसे–ब्राह्मण ग्रन्थ 4000–1100 ई. पूर्व., रामायण 600–200 ई. पूर्व, निरुक्त 800–700 ई.पू., महाभारत 1400 या 500–150 ई.पू.। यह अन्तराल मनुस्मृति को भी दिया जाना चाहिए था। इस प्रकार उसका काल 4000–100 ई.पू. कहा जाना चाहिए था। यदि ऐसा नहीं मानते हैं, तो पूर्व संकलित ग्रन्थों में मनु और उसके वंशजों का विवरण और उसके उद्धरण कैसे आ गये? वे लेखक इस विसंगति का उत्तर नहीं दे पाते।

भारतीय इतिहास और वंशावलियों के आधार पर विचार करने से भी मनु आदि–कालीन व्यक्ति सिद्ध होते हैं। भारतीय इतिहास में ब्रह्मा को आदिपुरुष माना गया है। प्रारंभ में ब्रह्माओं की पीढ़ियां चलीं। ब्रह्मा का नाम स्वयम्भू भी है। मनु ब्रह्मा का पुत्र (कहीं–कहीं पौत्र) था, इस कारण यह मनु स्वायम्भुव कहलाया। शेष तेरह मनु, अन्य ऐतिहासिक व्यक्ति, राजा और ऋषि–मुनि उसके बाद के हैं। यदि हम पाश्चात्त्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें, तो भी मनु स्वायम्भुव का काल हजारों वर्ष पूर्व जाता है। पाश्चात्त्य इतिहासकार पार्जिटर ने विशेष प्रयास करके भारतीय वंशावलियों को क्रमबद्ध करने की कोशिश की है। उनके अनुसार मनु वैवस्वत, जो सातवें मनु थे, का काल 3100 ई.पू. है। मनु स्वायम्भुव उससे भी अनेक पीढ़ी पूर्व हुए हैं। अतः मनु का काल हजारों वर्ष पूर्व स्थिर होता है। उस मनु द्वारा रचित होने से मनुस्मृति का भी काल उतना ही पूर्व मानना पड़ेगा।

अब मैं मनु और मनुस्मृति के काल पर एक नये दृष्टिकोण से विचार करता हूँ। वह है–'**सामाजिक इतिहास**'। सभी सामाजिक इतिहासकार और डॉ. अम्बेडकर भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि महाभारतकाल तक शिक्षा तथा समाजव्यवस्था का आधार वर्णव्यवस्था था। ऋषि दयानन्द भी कहते हैं कि इस समय वर्णव्यवस्था में विकृति आने लगी थी तथापि वह कर्म पर आधारित थी। महाभारत और गीता में वर्णों का कर्मों के आधार पर निर्धारण है और गुण–कर्म से ही उनकी घोषणा है– "**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः**" (गीता 4.13)। इतिहासकारों और डॉ. अम्बेडकर ने इस विषय पर पर्याप्त विवेचन करते हुए स्वीकार किया है कि

बुद्धकाल तक जातिवाद कठोर रूप धारण नहीं कर पाया था। उस समय भी सब वर्णों में सहभोज और व्यवहार था। सामाजिक इतिहास का यह तथ्य बतलाता है कि जन्मना जातिवाद महाभारत के बाद प्रारंभ हुआ, फिर बुद्धकाल तक पनपा और शुंगकाल में कठोर हुआ। मनु और मनुस्मृति महाभारत काल से बहुत पूर्व के हैं, कालक्रम की दृष्टि से भी और वंशावलियों की दृष्टि से भी। ***मनु के समय जातिवाद का अस्तित्व नहीं था और जातिवाद के उद्भव के समय मनु नहीं थे। अतः उनकी 'स्मृति' में जन्माधारित जातिवाद का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जन्मना जातिवाद से सम्बन्धित जितने श्लोक मनुस्मृति में मिलते हैं वे मनु की रचना नहीं है। वे जातिवाद के समय किये प्रक्षेप हैं।***

डॉ. अम्बेडकर का मत – यद्यपि डॉ. अम्बेडकर अधिकांशतः पाश्चात्त्य लेखकों का अनुसरण करते हैं किन्तु उन्होंने मनु के वंश और कालविषयक जो तथ्य स्वीकृत किये हैं उनसे अधिकांशतः परम्परागत मतों की ही पुष्टि होती है। डॉ. अम्बेडकर के कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेख मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनसे निर्विवाद रूप से स्पष्ट होता है कि जो मनु प्राचीन इतिहास में और ऋषि दयानन्द के मत में आदिकालीन हैं, जो आदि पुरुष, आदि धर्मशास्त्रकार, आदि समाजव्यवस्थापक, आदिराजा या आदिसंविधाननिर्माता हैं, जो प्राचीन इतिहास, संस्कृति-सभ्यता, साहित्य के प्राणभूत और आदरणीय हैं, डॉ. अम्बेडकर उनके विरोधी नहीं हैं, अपितु उन्हें आदरणीय मानते हैं। वे लिखते हैं-"**प्राचीन भारतीय इतिहास में मनु आदरसूचक संज्ञा थी**" (डॉ. अम्बेडकर वाङ्मय, भाग-ब्राह्मणवाद की विजय, पृ.151)

डॉ. अम्बेडकर उन मनु या मनुओं के काल को अत्यन्त प्राचीन मानते हैं। अपनी पुस्तक '**हू वर द शूद्राज्**' में उन्होंने उल्लेख किया है कि पैजवन का पुत्र राजा सुदास भरतवंशी था, और वह शूद्र था। भागवत-पुराण के दो श्लोकों को उद्धृत करके उन्होंने लिखा है कि सुदास 'मनु स्वायंभुव' का वंशज था। वे लिखते हैं-- "**मनु के वंश में उत्पन्न हुए, जिनमें सुदास भी एक था।......... उपर्युक्त बात से पता चलता है कि सुदास कैसे प्रतापी वंश में से था**" (अध्याय सात)। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर वे घोषणा करते हैं--"**शूद्र आर्य जाति के सूर्य-वंश से थे। भारतीय आर्यों में शूद्र क्षत्रिय वर्ण के थे**" (अध्याय बारह)। "**सुदास इक्ष्वाकु की 50वीं पीढ़ी में था। सब मनु तथा इक्ष्वाकु के वंश में थे। सुदास शूद्र था, तो ये सभी राजा शूद्र थे**" (अध्याय ग्यारह)।

स्वयंभू अर्थात् ब्रह्मा का पुत्र होने के कारण प्रथम मनु का नाम 'स्वायंभुव' था। इसी के वंश में छह अन्य मनु हुए हैं। इनमें सातवां 'वैवस्वत मनु' था। इसी

से मनुष्यों के 'सूर्य' और 'चन्द्र' दो वंश चले। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार शूद्रों को 'सूर्यवंशी' कहने का अभिप्राय है उनका मनु का वंशज होना। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर के मतानुसार मनु अति प्राचीन-कालीन हैं, आदरणीय हैं और शूद्रों के भी आदिपुरुष हैं। फिर उनका विरोध डॉ. अम्बेडकर कैसे कर सकते हैं?

वस्तुतः, पाश्चात्त्य लेखक भाषाविज्ञान के अधूरे चिन्तन और लंगड़े तर्कों के आधार पर आंकड़े निर्धारित करने में इतने उलझ गये कि वे संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों में उद्धृत मनु के उल्लेखों और वंश विवरणों को भी भूल गये। यही कारण है कि उनके सारे कालनिर्धारण गड्ढ-मड्ढ हैं। फिर भी, दोनों दृष्टियों से मनु का काल 'एक समान' निर्धारित होता है। भारतीय परम्परा में वेद सबसे प्राचीन और आदिसृष्टिकालीन हैं। पाश्चात्त्य भी मानते हैं कि 'वेद विश्व के प्राचीन ग्रन्थ हैं।' मनु वेदों को परमप्रमाण मानकर सीधे उनसे ही अपने सिद्धान्तों को ग्रहण करने का उल्लेख करते हैं। अन्य समस्त संहिता और ब्राह्मणग्रन्थ आदि वैदिक और लौकिक साहित्य में मनु के उल्लेख हैं। इस प्रकार मनु का काल वेदों के बाद और समस्त वैदिक साहित्य से पूर्व स्थिर होता है। आंकड़ों में आप चाहे उसे कुछ भी मानें। उस समय जन्मना जातिवाद नहीं था, अतः मनु और उनकी स्मृति को जन्मना जातिवाद से नहीं जोड़ा जा सकता।

2. मनुस्मृति का मूल प्रतिपाद्य विषय

मनुस्मृति की मौलिक समाज-व्यवस्था का निश्चय या निर्णय करने में यह बिन्दु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आज भी हम किसी रचना की समीक्षा करते समय उसके प्रतिपाद्य/वर्ण्यविषय/उद्देश्य का विवेचन करते हैं और रचनाकार के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। आइये, इस आधार पर मनुस्मृति की छान-बीन करें।

मनुस्मृति का प्रतिपाद्य कर्मणा वर्ण-व्यवस्था है, जन्मना जातिव्यवस्था नहीं। यह मनुस्मृति के अन्तःसाक्ष्यों एवं विषयवस्तु से भलीभांति सिद्ध हो जाता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रश्नकर्त्ता ऋषियों द्वारा वर्णाश्रम-धर्मों की ही जिज्ञासा की गई है, वर्ण-धर्मों को बतलाने का ही मनु कथन करते हैं और वर्ण-धर्मों की समाप्ति पर उपसंहार भी 'वर्ण' शब्द से करते हैं। जिस ग्रन्थ के आदि-अन्त में स्वयं ही अतिस्पष्ट शब्दों में प्रतिपाद्य का कथन है, उसमें दूसरे विषय को मौलिक कैसे स्वीकार किया जा सकता है? आदि में ऋषि जन, मनु को धर्मों का विशेषज्ञ मानकर उनसे वर्णों के धर्मों का कथन करने की जिज्ञासा करते हैं-**"सर्ववर्णानां.....धर्मान् नः वक्तुमर्हसि"** (1.2) अर्थात् सभी वर्णों के धर्मों को आप हमें बतलाने में समर्थ हैं। प्रथम अध्याय में वर्ण केवल चार ही बतलाये हैं (1.88-91)।

अर्थात् विषय को आगे प्रारंभ करते हुए मनु कहते हैं-"**वर्णधर्मान् निबोधत**" (2.25) अर्थात् वर्णों के धर्मों को सुनिए। वर्ण-धर्मों के कथन की समाप्ति पर भी विषय का उपसंहार वर्ण शब्द से करते हैं-"**एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः**" (10.131) अर्थात् चारों वर्णों के सम्पूर्ण धर्मविधान आपको बता दिये हैं। स्पष्ट है कि यदि इसमें संकेतित विषय से बाह्य अथवा विषयविरुद्ध कोई वर्णन है, तो वह मूल रचयिता का नहीं है; किसी अन्य द्वारा प्रक्षिप्त है।

इसी प्रकार मनुस्मृति की यह शैली है कि मनु ने किसी मुख्य विषय को प्रारम्भ या समाप्त करते समय आदि, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर स्वयं विषय का संकेत किया है। विषयवस्तु के मध्य में वर्ण और आश्रमों का बार-बार उल्लेख है। सारी विषयवस्तु का ताना-बाना वर्णों के कर्त्तव्यों से बुना हुआ है। कहीं भी जन्मना जातिवाद के किसी विषय को प्रारंभ या समाप्त करने का कथन नहीं है। जैसे- "**चतुर्णामपि वर्णानां स्त्रीविवाहान् निबोधत**" (3.20)=चारों वर्णों की विवाह-विधि सुनिए। "**देहशुद्धिं प्रवक्ष्यामि..... चतुर्णामपि वर्णानाम्**" (5.57)=चारों वर्णों के लिए शरीर शुद्धि का प्रकार कहूँगा। "**चातुर्वर्ण्यं.... चत्वारश्चाश्रमाः**" (12.97)= चार वर्ण और चार आश्रम।। "**वर्णापेतम्.... आर्यरूपमिवानार्यम्**" (10.57)=वर्णों में अदीक्षित जो अनार्य, आर्य बनकर रहते हैं, आदि। जो प्रवक्ता बार-बार वर्ण शब्द का प्रयोग करके अपने प्रतिपाद्य की घोषणा कर रहा हो, उसके ग्रन्थ में यदि उस घोषित वर्णव्यवस्था के विरुद्ध कोई श्लोक डाल दिया गया है तो स्वतः स्पष्ट है कि वह उसका नहीं हो सकता, वह अन्य द्वारा प्रक्षिप्त है, यह मानना ही पड़ेगा। क्योंकि जन्मना जातिवाद मनुस्मृति का प्रतिपाद्य है ही नहीं, अतः उससे सम्बन्धित मनुस्मृति में विद्यमान सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

3. मनुस्मृति में प्रक्षेप और सर्वप्रथम प्रक्षेपनिर्देशक

ऋषि दयानन्द से पूर्व, प्राचीन, मध्यकालीन एवं साम्प्रतयुगीन दर्जनों भाष्यकार हो चुके हैं। जिनमें प्राचीन भाष्य लुप्त हैं। मध्यकालीन भाष्यकारों में सबसे प्राचीन भाष्य मेधातिथि (900 ईस्वी) का उपलब्ध है। उसके पश्चात् क्रमशः भारुचि (1050 ईस्वी), गोविन्दराज (1000 ईस्वी), कुल्लूक भट्ट (1200 ईस्वी), राघवानन्द (1300 ईस्वी) और सर्वज्ञनारायण (1400 ईस्वी) के भाष्य उपलब्ध हैं। किसी भी भाष्यकार की बुद्धि इस तथ्य की ओर नहीं गई कि मनुस्मृति में समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं। यदि बुद्धि में यह तथ्य आया भी होगा तो उन्होंने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि विचारधारा से वे सभी जन्मना जातिवादी थे। अपने समय में उन्हें जो पांडुलिपि प्राप्त हुई, उस पर ही उन्होंने भाष्य कर दिया। परस्परविरोधी और प्रसंग-

विरोधी श्लोकों के अर्थों की जुगत भिड़ाने में वे लम्बी-लम्बी कसरतें करते रहे किन्तु अन्ततः वे सफल नहीं हुए। ऋषि दयानन्द ने मनुस्मृति का गम्भीर मनन करते हुए यह अनुभव किया कि मनुस्मृति में परस्परविरोधी, प्रसंग-विरोधी, शैली-विरोधी और मनु की प्रतिज्ञा के विरूद्ध 'वेदविरोधी' श्लोक पाये जाते हैं, जिनसे मनुस्मृति का एकवाक्यता गुण नष्ट होता है। यह त्रुटि मनु सदृश अपने समय के तत्त्वद्रष्टा, धर्म तथा संविधानविशेषज्ञ महर्षि की रचना में संभावित नहीं है, अतः उन्होंने त्रुटियों का कारण 'प्रक्षेपों' को माना और घोषणा की कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं और प्रक्षेपों से रहित मनुस्मृति को ही मैं प्रामाणिक तथा पठन-पाठन में प्रमाण मानता हूँ। ऋषि लिखते हैं-

(क) **"अब मनु जी का धर्मशास्त्र कौन-सी स्थिति में है, इसका विचार करना चाहिए। जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वालों को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानव धर्मशास्त्र की अवस्था हुई है। उसमें बहुत-से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं। वे वस्तुतः भगवान् मनु के नहीं है"** (उपदेश मंजरी 8)

(ख) **"मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् स्मृति ग्रन्थ"** (अपठनीय हैं)। (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, ग्रन्थप्रामाण्य विषय)

(ग) ऋषि दयानन्द ने मनुस्मृति के **"प्रोक्षितं भक्षयेन् मांसम्"** (5.27), **"न मांसभक्षणे दोषः...."** (5.56), **"अविद्वान्.. ब्राह्मणं दैवतंमहत्" "श्मशाने चापि तेजस्वी" "एवं... सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः"** (9.317-319) श्लोकों को प्रक्षिप्त के रूप में उद्धृत कर इन्हें स्वार्थी ब्राह्मणों द्वारा किये गये प्रक्षेप बताया है। (सत्यार्थप्रकाश समु. 11 और उपदेश मंजरी 12)

आज हम देख रहे हैं कि 53 वर्षीय भारतीय संविधान में 80 से अधिक संशोधन हो चुके हैं। वे संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान के मूल अंश नहीं हैं। मनुष्य का एक स्वभाव है कि वह एक बार प्राप्त पद, सम्मान, स्वत्व और अधिकार की जी-जान की बाजी लगाकर भी सुरक्षा करना चाहता है। ज्यों-ज्यों कर्मणा वैदिक वर्णव्यवस्था विकृत होकर जन्मना जातिवादी के रूप में परिवर्तित एवं सुदृढ़ होने लगी त्यों-त्यों उच्च वर्ण के लोगों ने अपने स्वार्थ और हितों की रक्षा के लिए, तत्कालीन समाज के प्रमुख धर्मशास्त्र और संविधान में उसी प्रकार के प्रक्षेप कर दिये। कहीं ये प्रक्षेप निर्धारित कर्त्तव्यों से विहीन अपने जीवन का समर्थन करने के लिए किये गये हैं, कहीं अपने पतित आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए, तो कहीं परिवर्तित परिस्थितियों के अभाव की पूर्ति के लिए किये गये हैं।

ऋषि की यह मान्यता कि 'मनुस्मृति में समय-समय पर प्रक्षेप हुए हैं', मनुस्मृति के परस्परविरोधी, प्रसंगविरोधी अन्तःसाक्ष्यों से तो सिद्ध होती ही है, साथ ही अनेक पांडुलिपीय प्रमाणों से भी पुष्ट होती है--

1. सम्प्रति मनुस्मृति की जितनी पांडुलिपियां उपलब्ध हैं, उनमें अधिकांश में श्लोकों की संख्या में अन्तर है और पादभेद तथा पाठभेद है। यह तथ्य यह सिद्ध करता है कि हस्तलिखित प्रतियों में लोग मनचाहे ढंग से पाठान्तर करते आये हैं। हस्तलिखित ग्रन्थ-परम्परा में यह काम आसानी से हो जाता था।
2. मेधातिथि (900 ईस्वी) के भाष्य के साथ मनुस्मृति का एक पाठ-स्वरूप स्थिर हो चुका था, किन्तु उसके बावजूद कुल्लूक भट्ट (1200 ईस्वी) के काल तक, तीन सौ वर्षों में 170 श्लोक मनुस्मृति में प्रक्षिप्त हो चुके थे। वे पूरी तरह घुल-मिल नहीं पाये, अतः कुल्लूक भाष्य के चौखम्बा संस्करण में वे यथास्थान बृहत् कोष्ठक में और पृथक् संख्याक्रम में दिये गये हैं।
3. डॉ. केवल मोटवानी ने अपनी पुस्तक **"मनु धर्मशास्त्र-ए सोशोलोजिकल एण्ड हिस्टोरिकल स्टडी"** में एक पुरातात्त्विक प्रमाण उद्‌धृत करके मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों के रहस्य को उजागर कर दिया है। जापान ने 1932 ईस्वी में चीन पर आक्रमण करते समय एक स्थान से चीन की प्रसिद्ध दीवार को तोप के गोलों से तोड़ा तो उसमें एक संदूक निकला उसमें चीनी ग्रन्थों की पांडु-लिपियां भरी थीं। उन पांडुलिपियों को सर आगुत्स फ्रित्स जार्ज लंदन के पुस्तकालय में ले आया। उनको प्रो. एन्थनी ग्रेमे के नेतृत्व में चीनी भाषा के विद्वानों द्वारा पढ़वाया गया। एक ग्रन्थ में लिखा था कि भारत में मनु का एक धर्मशास्त्र है जो वैदिक संस्कृत में लिखा हुआ है और दस हजार वर्ष पुराना है। उसमें 680 श्लोक हैं। आज 2685 श्लोक हैं। मेरे शोधकार्य के अनुसार 1471 प्रक्षिप्त और 1214 मौलिक सिद्ध हुए हैं। अभी शोध की और आवश्यकता है।
4. मनुस्मृति और अन्य भारतीय साहित्य में प्रक्षेपों के होने की सच्चाई को ऋषि दयानन्द के अनुयायियों के अतिरिक्त अनेक पाश्चात्त्य लेखकों, पौराणिकों तथा आधुनिक भारतीय लेखकों ने भी स्वीकार किया है। इनमें मैक्समूलर, जे. जौली, वूलर, मैकडानल आदि पाश्चात्त्यों, विश्वनाथ नारायण माण्डलिक, जगन्नाथ रघुनाथ धारपुरे, हरगोविन्द शास्त्री, जयन्तकृष्ण हरिकृष्णदेव आदि भाष्यकारों और महात्मा गांधी, श्री अरविन्द, (मनुस्मृति को छोड़कर) डॉ. अम्बेडकर आदि अन्य लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं। वाल्मीकिरामायण के श्लोकान्तर के कारण प्रचलित दाक्षिणात्य, पश्चिमोत्तरीय, गौड़ीय नामक

तीन-तीन संस्करण और 'जय' नामक व्यासरचित मूल काव्य का 'भारत' और एक लाख के 'महाभारत' नामक काव्य के रूप में विराट् रूप धारण करना, प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रक्षेपीय प्रवृत्ति के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

इन प्रक्षेपों के गदलेपन के कारण प्राचीन भारत के इतिहास, संस्कृति-सभ्यता, समाज का चित्र भी गदला एवं विकृत हो गया है। ऋषि दयानन्द ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से प्रक्षेपों से गदली मनुस्मृति को पहचाना और उसको स्वच्छ करने के लिए प्रेरणा एवं मार्गदर्शन किया। आज हम प्रक्षेपरहित मनुस्मृति के दर्पण में वैदिक काल के समाज, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास का यथार्थ और उज्ज्वल चित्र देख सकते हैं। इस प्रकार प्रक्षेपों की खोज और उसके शोध की प्रेरणा ऋषि दयानन्द की अपूर्व वैचारिक देन है।

4. मनुस्मृति की समाज व्यवस्था का मौलिक स्वरूप

मनुस्मृति की समाज व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद बिन्दु वर्णव्यवस्था है। जैसा कि 'मनुस्मृति के प्रतिपाद्य विषय' के अन्तर्गत प्रमाणपूर्वक बताया गया है कि वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत में मनुस्मृति के प्रतिपाद्य केवल चार वर्ण हैं, वे हैं-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुस्मृति में आये जाति-प्रतिपादक श्लोकों को देखकर आलोचकों का मानना है कि मनुस्मृति में जन्मना जातिवाद का प्रतिपादन है। अपने ग्रन्थों में ऋषि दयानन्द ने दर्जनों स्थानों पर मनु के श्लोकों को उद्धृत करते हुए यह दर्शाया है कि मनुस्मृति की मूलव्यवस्था कर्मणा वर्णव्यवस्था है। उनके कुछ कथन सिद्धान्त रूप में उद्धृत किये जाते हैं--

(क) "**शूद्रो ब्राह्मणतामेति**" (मनु. 10.65) श्लोक को पांच स्थानों पर उद्धृत किया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं--"**चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे**" (सत्यार्थप्रकाश समु. 4)

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के कर्मों का निर्धारण करने वाले श्लोकों की व्याख्या करने के उपरान्त ऋषि लिखते हैं--

"**ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुणकर्म हों उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा, और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा।**" (सत्यार्थप्रकाश, समु. 4)

(ग) **"शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, यह व्यवस्था गुण, कर्म, और स्वभाव से की जा सकती है; और प्राचीन आर्य लोगों की व्यवस्था इसी प्रकार थी। वे जन्म से ब्राह्मणादि वर्ण नहीं मानते थे"** (उपदेश मंजरी 4)

(घ) जन्मना वर्णव्यवस्था मानने वालों से महर्षि ने व्यंग्यपूर्वक एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक प्रश्न करके कर्मणा वर्णव्यवस्था को सिद्ध किया। वे पूछते हैं--

"जो कोई रज-वीर्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चिन, मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये"। (सत्यार्थप्रकाश, समु. 4)

"अब यदि कहा जाये कि जन्म ही से ब्राह्मण होता है तो जब कोई ब्राह्मण अपने सदाचरण को छोड़ यवनादिकों के समान आचरण करने लग जाता है तो उसका ब्राह्मणत्व क्यों नष्ट होता है? इससे सिद्ध हुआ कि केवल जन्मसिद्ध ही ब्राह्मणत्व नहीं, किन्तु आचार-सिद्ध है। यह तुम्हारे ही कामों से सिद्ध होता है। जिस समय इस आर्यावर्त में अखण्ड राज्य, अखण्ड ऐश्वर्य था, उस समय वर्णाश्रम की ऐसी ही व्यवस्था थी।" (उपदेश मंजरी 4)

(अ) डॉ. अम्बेडकर द्वारा वैदिक और ऋषिवर्णित वर्णव्यवस्था की प्रशंसा

महर्षि मनु ने वेदों (ऋग्वेद 10.90.11-12; यजुर्वेद 31.10-11; अथर्व. 19. 6.5-6) से वर्णव्यवस्था को ग्रहण किया और फिर ऋषि दयानन्द ने उन दोनों से। उन्हीं के आधार पर उन्होंने स्त्री-शूद्रों को सभी धार्मिक अधिकार और सम्मान प्रदान किये। आर्यसमाज ने उन्हें समानता का और वेद-शास्त्रों की शिक्षा का अवसर दिया। यह सब मनु की व्यवस्था के आधार के कारण संभव हो सका है।

गुण-कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था और ऋषि दयानन्द की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं--**"वेद में वर्ण की धारणा का सारांश यह है कि व्यक्ति वह पेशा अपनाये, जो उसकी स्वाभाविक योग्यता के लिए उपयुक्त हो।.... मैं मानता हूँ कि स्वामी दयानन्द व कुछ अन्य लोगों ने वर्ण के वैदिक सिद्धान्त की जो व्याख्या की है, वह बुद्धिमत्तापूर्ण है और घृणास्पद नहीं है। मैं यह व्याख्या**

नहीं मानता कि जन्म किसी व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित करने का निर्धारक तत्त्व हो। वह केवल योग्यता को मान्यता देती है" (वही, जातिप्रथा उन्मूलन पृ. 119)। इन उद्धरणों में डॉ. अम्बेडकर ने मनु की समाज-व्यवस्था को गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था माना है, जो उनकी राय में आपत्तिरहित एवं बुद्धिमत्तापूर्ण है। मनु और अम्बेडकर, दोनों में यहां अद्‌भुत समानता है तथा किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है।

शायद इसी कारण डॉ. अम्बेडकर की लेखनी से ये शब्द निकल पड़े--**"एक बात मैं आप लोगों को बताना चाहता हूँ कि मनु ने जाति के विधान का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था"** (वही, भारत में जातिप्रथा, पृ. 29)। कोई कितना भी आग्रह करता रहे, लेकिन यह निश्चित है कि डॉ. अम्बेडकर ने यह वाक्य लिखकर मनु को, अपितु सभी मनुओं को 'जाति-पांति-निर्माता' के आरोप से सदा-सदा के लिए मुक्त कर दिया है।

अन्यत्र वे लिखते हैं--**"चातुर्वर्ण्य की वैदिक पद्धति जाति-व्यवस्था की अपेक्षा उत्तम थी... प्राचीन चातुर्वर्ण्य पद्धति में दो अच्छाइयां थीं जिन्हें ब्राह्मणवाद ने स्वार्थ में अन्धा होकर निकाल दिया। पहली, वर्णों की आपस में एक-दूसरे से पृथक् स्थिति नहीं थी। एक वर्ण का दूसरे वर्ण में विवाह, और एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ भोजन, दो बातें ऐसी थीं जो एक-दूसरे को आपस में जोड़े रखती थीं।" "बौद्धपूर्व समय में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था एक उदार व्यवस्था थी और उसमें गुंजाइश थी। .... किसी भी वर्ण का पुरुष विधिपूर्वक दूसरे वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता था। इस दृष्टिकोण की पुष्टि में अनेक दृष्टांत उपलब्ध हैं।"** (वही, ब्राह्मणवाद की विजय, पृ. 175)।

"शूद्र वेदों का अध्ययन कर सकते थे। कुछ ऐसे शूद्र भी थे, जिन्हें ऋषि-पद प्राप्त था और जिन्होंने वेदमन्त्रों की रचना की। कवष एलूष नामक ऋषि की कथा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है" (वही, शूद्र और प्रतिक्रान्ति, 324)। ये संदर्भ कुछ नमूने मात्र हैं। ऐसे दर्जनों स्थल हैं, जहां इन व्यवस्थाओं की प्रशंसा है और डॉ. अम्बेडकर और मनुस्मृति के मूल विधानों में कोई विरोध नहीं है।

(आ) 'वर्ण' का अर्थ और वर्णनिर्धारण की विधि

वर्णव्यवस्था में विद्यमान 'वर्ण' शब्द स्वयं अपनी व्यवस्था के स्वरूप पर प्रकाश डाल रहा है। यह 'वृञ्-वरणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-'जिसे वरण किया जाये'। आचार्य यास्क निरुक्त में इसका अर्थ करते हुए कहते हैं-**"वर्णः वृणोतेः"** (2.14)=वरण करने के कारण इनको 'वर्ण' कहा जाता है। व्यक्ति अपनी

रुचि और योग्यता के अनुसार किसी भी 'वर्ण' की दीक्षा ले सकता है, इसी कारण इनका नाम वर्ण है। ऋषि दयानन्द वर्ण शब्द का अर्थ और उसके निर्धारण का समय इस प्रकार बतलाते हैं--

(क) **"वर्णो वृणोतेः"** (निरुक्त 2.14)। **"इनका नाम वर्ण इसलिए है कि जिसके गुण-कर्म जैसे हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये"** (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वर्णाश्रमविषय)

"जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह 'वर्ण' शब्दार्थ से लिया जाता है" (आर्योद्देश्यरत्नमाला 166)

(ख) वर्ण का चयन गुरुकुल में प्रवेश के समय किया गया है किन्तु उसकी पूर्ण शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के बाद ही उसके अन्तिम निर्धारण की घोषणा आचार्य करता है। जैसे आजकल छात्र कला, विज्ञान, इंजिनीयरिंग, चिकित्सा या कानून, जिस पाठ्यक्रम में प्रवेश लेता है उसको पूर्ण करने के बाद शिक्षा-संस्थान वैसी ही डिग्री उसको देकर उस विषय का स्नातक घोषित करते हैं। मनुस्मृति के आधार पर ऋषि दयानन्द लिखते हैं--

"सब वर्णों के अध्ययन का जो समय है, वह ब्रह्मचर्य है" (उपदेश मंजरी 4)

"यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये" (सत्यार्थप्रकाश, समु. 4)

"यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष में वर्णों का अधिकार ठीक-ठीक होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिए उसी समय गुण-कर्मों की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है।" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अध्ययनविषय)

(ग) द्विज किस प्रकार बनता है? इस पर वेद के आधार पर प्रकाश डालते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं--**"जिसको विद्या और उत्तम शिक्षायुक्त माता-पिताओं से एक जन्म, और दूसरा जन्म आचार्य और विद्या से हो, वह 'द्विज' होता हुआ विद्वान् हो"** (ऋग्वेदभाष्य 1.149.5, भावार्थ)

वर्णव्यवस्था में वर्ण का निर्धारण किस प्रकार होता है अथवा द्विज किस प्रकार बनता है, इसको मनुस्मृति में स्पष्ट किया गया है। मनु ने कहा है कि माता-पिता से उत्पत्ति तो केवल 'शरीरजन्म' है असली जन्म तो विद्याप्राप्ति का 'ब्रह्मजन्म' है, जो उपनयन संस्कार के द्वारा मिलता है (**"औपनयनिको विधि.... उत्पत्तिव्यञ्जकः"**

2.68)। ब्रह्मजन्म प्राप्त करने के उपरान्त अर्थात् वर्णानुसार शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के बाद स्नातक होने पर वर्ण का निश्चय और घोषणा आचार्य करता है (**"आचार्यस्त्वस्य यां जातिमुत्पादयति सावित्र्या"** 2.148)। तभी कोई द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनता है।

जिसका ब्रह्मजन्म नहीं होता, वह 'एकजाति' अर्थात् शूद्र रह जाता है। इस प्रकार अनपढ़-अशिक्षित, पूर्व वर्णों की शिक्षा-दीक्षा से रहित व्यक्ति को शूद्र कहा जाता है। जैसे आजकल बालक कला, वाणिज्य, विज्ञान, इंजिनियरिंग, चिकित्सा या कानून जिस पाठ्यक्रम में प्रवेश लेता है, स्नातक बनने के बाद शिक्षा-संस्थान वैसी ही डिग्री देते हैं। उसी प्रकार अध्ययन के उपरान्त ही आचार्य वर्ण का निर्धारण कर उसकी घोषणा करता था। स्पष्ट है कि वर्ण जन्म पर आधारित नहीं था, वर्ण माता-पिता से निर्धारित नहीं होता था।

द्विज शब्द स्वयं अपने अर्थ को स्पष्ट कर रहा है कि जिसके दो जन्म होते हैं, वही द्विज होता है। इसी आधार पर संस्कृत में दांत और पक्षियों को 'द्विज' कहते हैं, क्योंकि उनके दो जन्म होते हैं। एक जन्म वाला जो कोई है, वह शूद्र रह जाता है। स्पष्ट है कि मनुस्मृति में जन्म से वर्ण या जाति-निर्धारण नहीं है। यदि जन्म से होता, तो आचार्य द्वारा उसका निर्धारण करना संभव ही नहीं होता।

मनुस्मृति में, स्वयं संकेतित मूल प्रसंगों में यदि कहीं 'जाति' शब्द आया भी है, तो वह जन्माधारित जातिवाद के अर्थ में नहीं अपितु जन्म या उत्पत्ति या वर्ण के अर्थ में आया है, जैसे--**"जात्यन्धबधिरौ"** (9.201)=जन्म से अंधे और बहरे। **"जातिं स्मरति पौर्विकीम्"** (4.148)=पूर्वजन्म को स्मरण कर लेता है। **"द्विजातिः"**= दो जन्मों वाला; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। **"एकजातिः"**=एक जन्म वाला, शूद्र।

(इ) वर्ण और जातिव्यवस्था परस्परविरोधी

मनुस्मृति में प्रतिपाद्य विषय के रूप में विहित कर्मणा वर्णव्यवस्था जन्माधारित नहीं हो सकती, क्योंकि जहां वर्ण होगा वहां जन्मना जातिवाद नहीं हो सकता। ये दोनों व्यवस्थाएं परस्परविरोधी हैं। वर्णव्यवस्था में 'वर्ण' आधार है, जातिवाद में 'जन्म'। वर्ण, कर्मों और योग्यता से प्राप्त होता है, जबकि जाति माता-पिता से। वर्ण परिवर्तनशील होता है, जबकि जाति मरणपर्यन्त रहती है।

डॉ. अम्बेडकर का मत--डॉ. अम्बेडकर ने इस तथ्य को अनेक स्थलों पर स्वीकार किया है--**"जाति का आधारभूत सिद्धान्त वर्ण आधारभूत सिद्धान्त से मूल रूप से भिन्न है। न केवल मूल रूप से भिन्न है, बल्कि मूल रूप से परस्परविरोधी है। पहला सिद्धान्त (वर्ण) गुण पर आधारित है।"** (वही, जातिप्रथा उन्मूलन, पृ. 81)

"वर्ण और जाति दोनों का एक विशेष महत्त्व है जिसके कारण दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। वर्ण तो पद या व्यवसाय किसी भी दृष्टि से वंशानुगत नहीं है। दूसरी ओर, जाति में एक ऐसी व्यवस्था निहित है जिसमें पद और व्यवसाय, दोनों ही वंशानुगत हैं और इसे पुत्र अपने पिता से ग्रहण करता है" (वही, ब्राह्मणवाद की विजय, पृ. 169)

(ई) वर्ण-परिवर्तन का विधान

एक बार वर्णनिर्धारण के बाद यदि कोई पुनः वर्णपरिवर्तन करना चाहता था तो अभीष्ट वर्ण का प्रशिक्षण प्राप्त कर वर्णपरिवर्तन कर सकता था। उसके प्रशिक्षण का निर्णय शिक्षण संस्था अथवा शासन की ओर से धर्मसभा करती थी। मनमाने ढंग से कोई जब चाहे वर्ण नहीं बदल सकता था। आज भी नौकरी और व्यवसायों के लिए शिक्षण संस्थान और शासन अनुमति देते हैं, प्राचीन काल में भी यही देते थे।

मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था में व्यक्ति को वर्णपरिवर्तन की स्वतन्त्रता, सुविधा और दण्डरूप में अपरिहार्यता थी। इस विषय में मनुस्मृति का एक महत्त्वपूर्ण श्लोक प्रमाणरूप में उद्धृत किया जाता है जो सभी सन्देहों को दूर कर देता है। ऋषि दयानन्द ने इस श्लोक को पांच बार (सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में एक-एक बार और उपदेश मंजरी में दो बार) उद्धृत कर वर्ण परिवर्तन को सिद्ध किया है--

शूद्रो ब्राह्मणताम् एति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियात् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥ (अ. 10, श्लोक 65)

अर्थात्--'गुण, कर्म योग्यता के आधार पर ब्राह्मण, शूद्र बन जाता है और शूद्र ब्राह्मण। इसी प्रकार क्षत्रियों और वैश्यों में भी वर्णपरिवर्तन हो जाता है।'

इसके अतिरिक्त निर्धारित आचार सम्बन्धी कर्त्तव्यों के परित्याग से भी व्यक्ति को शासन द्वारा वर्ण से पतित किया जाता था। जैसे आज लापरवाही या अपराध करने पर नौकरी से किया जाता है। इसी प्रकार निर्धारित कर्मों के त्याग से वर्ण परिवर्तन हो जाता था। मनुस्मृति में दर्जनों ऐसे श्लोक हैं, जिनमें निर्धारित कर्मों के त्याग से और निकृष्ट कर्मों के कारण द्विजों को शूद्र कोटि में परिगणित करने का विधान किया है और शूद्रों को श्रेष्ठ कर्मों से उच्चवर्ण की प्राप्ति का विधान है। (द्रष्टव्य 2.37, 40, 103, 168; 4.245 आदि श्लोक)

(उ) वर्ण-परिवर्तन के ऐतिहासिक प्रमाण

मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था का यथार्थस्वरूप प्रस्तुत करते हुए ऋषि दयानन्द ने वर्णपरिवर्तन के ऐतिहासिक उदाहरण के रूप में सत्यकाम जाबाल, विश्वामित्र,

मातंग ऋषि, सगरपुत्र असमंजस्, कर्ण आदि के नाम का उल्लेख किया है। कुछ लोग इनको अपवाद उदाहरण कहकर कर्माधारित वर्णव्यवस्था को नकारने का प्रयास करते हैं। उन्हें दो बातें याद रखनी चाहियें। एक तो यह कि प्राचीन इतिहास में ऐसे वर्णपरिवर्तन के दर्जनों उदाहरण मिलते हैं जो अपवाद नहीं कहला सकते और न ही जातियों का वर्णपरिवर्तन अपवाद कहलाता है। दूसरी, जन्मना जातिवाद के प्रचलन के बाद वर्णपरिवर्तन का कोई उदाहरण नहीं मिलता। ये वर्णपरिवर्तन इस कारण ही स्वीकार हुए क्योंकि उस समय कर्मणा वर्णव्यवस्था थी। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

(1) स्वायम्भुव मनु के ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत राजा के तीन पुत्र ब्राह्मण बन गये थे। (2) क्षत्रिय वैवस्वत मनु का पुत्र नाभानेदिष्ट वैश्य बन गया था। (3) दुष्यन्तपुत्र भरत राजा के तीन पुत्र नर, गर्ग और महावीर्य ब्राह्मण बने। (4) दासी का पुत्र कवष ऐलूष और शूद्रापुत्र 'वत्स' मन्त्रद्रष्टा होने के कारण दोनों ऋग्वेद के सूक्तों के द्रष्टा ऋषि कहलाये। (5) क्षत्रिय कुल में उत्पन्न राजा विश्वरथ, ब्रह्मर्षि विश्वामित्र बने। (6) अज्ञात कुल के सत्यकाम जाबाल ब्रह्मवादी ऋषि बने। (7) चंडाल के घर उत्पन्न 'मातंग' एक ऋषि कहलाये। (7) [कुछ कथाओं के अनुसार] निम्न कुल में उत्पन्न वाल्मीकि, महर्षि वाल्मीकि की पदवी को प्राप्त कर गये। (8) दासीपुत्र विदुर राजा धृतराष्ट्र के महामन्त्री बने और महात्मा कहलाये। (9) दशरथ पुत्र श्रीराम और क्षत्रिय यदु कुल में उत्पन्न श्रीकृष्ण 'भगवान्' माने गये और वे ब्राह्मणों के भी पूज्य बने, जबकि उनका कुल क्षत्रिय था। इसके विपरीत कर्मों के कारण। (10) पुलस्त्य ऋषि का वंशज लंकापति रावण 'राक्षस' कहलाया। (11) राम के पूर्वज रघु का 'प्रवृद्ध' नामक पुत्र नीच कर्मों के कारण क्षत्रियों से बहिष्कृत होकर 'राक्षस' बना। (12) राजा सगर के पुत्र असमंजस को शूद्र घोषित किया गया। (13) राजा त्रिशंकु चंडालभाव को प्राप्त हुआ। (14) विश्वामित्र के कई पुत्र शूद्र, कई क्षत्रिय और ब्राह्मण कहलाये। (15) सूतपुत्र कर्ण क्षत्रिय बना।

जातियों के वर्णपरिवर्तन—व्यक्तिगत उदाहरणों के अतिरिक्त, इतिहास में पूरी जातियों का अथवा जाति के पर्याप्त भाग का वर्णपरिवर्तन भी मिलता है। महाभारत और मनुस्मृति में कुछ पाठभेद के साथ पाये जाने वाले श्लोकों से ज्ञात होता है कि निम्नलिखित जातियां पहले क्षत्रिय थीं किन्तु वे अपने क्षत्रिय-कर्त्तव्यों के त्याग के कारण और ब्राह्मणों द्वारा बताये प्रायश्चित्त न करने के कारण शूद्र कोटि में परिगणित हो गयीं-

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाःकिराताः दरदाः खशाः॥ (मनु. 10.43-44)

अर्थात्–अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का त्याग कर देने के कारण और फिर ब्राह्मणों द्वारा बताये प्रायश्चित्तों को न करने के कारण धीरे-धीरे ये क्षत्रिय जातियां शूद्र कहलायीं- पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश। महाभारत अनु. 35.17-18 में इनके अतिरिक्त मेकल, लाट, काण्वशिरस, शौण्डिक, दार्व, चौर, शबर, बर्बर जातियों का भी उल्लेख है।

(ऊ) डॉ. अम्बेडकर के मत में वर्णपरिवर्तन

डॉ. अम्बेडकर ने माना है कि **"अन्य समाजों के समान भारतीय समाज भी चार वर्णों में विभाजित था, ये हैं- 1. ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग, 2. क्षत्रिय या सैनिक वर्ग, 3. वैश्य अथवा व्यापारिक वर्ग, 4. शूद्र अथवा शिल्पकार और श्रमिक वर्ग। इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि आरंभ में यह अनिवार्य रूप से वर्ग-विभाजन के अन्तर्गत व्यक्ति की दक्षता के आधार पर अपना वर्ण बदल सकता था और इसलिए वर्णों को व्यक्तियों के कार्य की परिवर्तनशीलता स्वीकार्य थी"** (वही, भारत में जातिप्रथा, पृ. 30)।

डॉ. अम्बेडकर ने वर्णव्यवस्था में मनु द्वारा किये जाने वाले वर्ण-परिवर्तन की पुष्टि मतान्तर से इन शब्दों में की है-**"इस बात की पुष्टि के लिए परम्परा के आधार पर पर्याप्त प्रमाण हैं, जिनका उल्लेख धार्मिक साहित्य में हुआ है... इस परम्परा के अनुसार किसी भी व्यक्ति के वर्ण का निश्चय करने का काम अधिकारियों के एक दल द्वारा किया जाता था, जिन्हें मनु और सप्तर्षि कहते थे। व्यक्तियों के समूह में से मनु उनका चुनाव करता था, जो क्षत्रिय और वैश्य होने योग्य होते थे और सप्तर्षि उन व्यक्तियों को चुनते थे जो ब्राह्मण होने के योग्य होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होने के लिए मनु और सप्तर्षियों द्वारा व्यक्तियों का चुनाव करने के बाद बाकी व्यक्ति जो नहीं चुने जा सकते थे, वे शूद्र कहलाते थे।... पिछली बार जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होने के लिए चुने गये होते थे, वे केवल शूद्र होने के योग्य होने के कारण रह जाते थे। इस प्रकार वर्ण के व्यक्ति बदलते रहते थे"** (वही, ब्राह्मणवाद की विजय, पृ. 170)।

(ए) महाभारत और बौद्धकाल तक वर्णव्यवस्था

उक्त प्रमाणों और युक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनु द्वारा विहित वर्णव्यवस्था में सभी व्यक्तियों को गुण-कर्मानुसार वर्ण में दीक्षित होने के समान

अवसर प्राप्त थे। ऋग्वेद से लेकर महाभारत (गीता) पर्यन्त यह कर्माधारित वर्णव्यवस्था चलती रही है। गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है-

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः" (4.13)

अर्थात्-'गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का निर्माण किया गया है। जन्म के अनुसार नहीं।' महाभारत और गीता में चार वर्णों के कर्मों का विधान है और स्पष्टतः कर्म से चार वर्ण माने हैं (गीता 18.42.43; महाभारत शान्ति.186)

बाद तक भी वर्णपरिवर्तन के उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। जे. विल्सन और एच.एल.रोज के अनुसार राजपूताना, सिन्ध और गुजरात के पोखरना या पुष्करणा ब्राह्मण, और उत्तर प्रदेश में उन्नाव जिला के आमताड़ा के पाठक और महावर राजपूत वर्णपरिवर्तन से निम्न जाति से ऊंची जाति के बने (देखिए हिन्दी विश्वकोश, भाग 4)

ऋषि दयानन्द ने भी इतिहास के उक्त तथ्य का उल्लेख करते हुए माना है कि महाभारत तक चारों वर्णों में परस्पर प्रीति का व्यवहार था-

"जनमेजय के राज्य तक चारों वर्णों का परस्पर में बर्ताव होता था और वे सामाजिक नियम, राज-सभा, धर्मसभा, विद्या-सभा के प्रबन्ध में रीत्यनुसार चलते थे। यह बात कि चारों वर्णों का परस्पर में बर्ताव कैसा था, आप लोगों को महाभारत के राजसूय पर्व और अश्वमेध पर्व के देखने से विदित हो जायेगी" (उपदेश मंजरी 11)।

डॉ. अम्बेडकर ने शान्तनु क्षत्रिय और मत्स्यगंधा शूद्रस्त्री के विवाह का उदाहरण देकर इस तथ्य को स्वीकार किया है (वही, ब्राह्मणवाद की विजय, पृ. 175, 195)। इससे भी आगे बौद्धकाल तक भी अन्तर-जातीय विवाह और अन्तर-जातीय भोजन का प्रचलित होना उन्होंने स्वीकार किया है। जातिगत असमानता तब तक उभर गयी थी (वही, सुधारक और उनकी नियति, पृ.75)। डॉ. अम्बेडकर मानते हैं कि **"तब व्यवहार में लचीलापन था। आज की तरह कठोरता नहीं थी।"** इससे यह अभिप्राय निकला कि बौद्धकाल तक भी जाति-व्यवस्था कठोर नहीं बन पायी थी। तब तक प्राचीन वर्णव्यवस्था का ही अधिक प्रभाव था। इससे यही निष्कर्ष स्पष्ट रूप से सामने आता है कि महात्मा बुद्ध से सैंकड़ों पीढ़ी पूर्व जो आदिपुरुष मनु हुए हैं, उनके समय में जाति-पांति-व्यवस्था का नामोनिशान भी नहीं था। उस समय विशुद्ध गुण-कर्म पर आधारित वैदिक वर्ण-व्यवस्था थी, जिसकी डॉ. अम्बेडकर ने गत उद्धरणों में प्रशंसा की है।

5. मनुस्मृति की समाजव्यवस्था में शूद्रों का सम्मान और अधिकार

वर्तमान समय में, मनु और मनुस्मृति के प्रति सर्वाधिक आक्रोश उसमें वर्णित शूद्र-सम्बन्धी दृष्टिकोण को लेकर है। आलोचकों का कहना है कि मनु ने दलितों को असवर्ण, अछूत, नीच, सम्मान के अयोग्य, सर्वाधिक दण्डनीय, कहकर और उसको धार्मिक तथा शैक्षिक अधिकारों से वंचित कर उसके साथ घोर अन्याय किया है और उसे पिछड़ा दिया है।

उन आलोचकों को मैं कहना चाहूँगा कि उनके उक्त आरोप एकतरफा और निराधार हैं। यदि वे मनुस्मृति को मौलिकता की दृष्टि से पढ़ेंगें तो पायेंगे कि वे जो मनु के नाम पर कह रहे हैं वह मनु ने वस्तुतः कहा ही नहीं है। वे कथन केवल प्रक्षिप्त श्लोकों पर आधारित है। वर्णव्यवस्था के गत मौलिक विवेचन में यह सिद्ध हो गया है। यहां बहुत ही संक्षेप में मैं शूद्र सम्बन्धी मन्तव्यों को प्रस्तुत करूंगा।

सबसे पहला प्रमुख तथ्य तो यह है कि मनु की व्यवस्था कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था है। उन्होंने किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह आज की भाषा में दलित है अथवा पिछड़ा, जन्म के आधार पर 'शूद्र' कहा ही नहीं है। मनु का नाम लेकर अलोचकों ने, या फिर इन लोगों ने स्वयं अपने ऊपर शूद्र शब्द को थोपा है।

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीन वर्णों की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर लेते हैं, वे उस-उस वर्ण के कहलाते हैं और दूसरे विद्याजन्म के कारण 'द्विज' कहलाते हैं। जो उच्च वर्णों की विधिवत् शिक्षा-दीक्षा नहीं प्राप्त करते या अशिक्षित होते हैं, वे 'शूद्र' कहलाते हैं। इन्हें केवल एक शरीरजन्म के कारण 'एकजाति' कहते हैं। बालिद्वीप में आज भी ये नाम प्रचलित हैं और वहां अस्पृश्यता का व्यवहार नहीं है। ऐसा व्यक्ति केवल शारीरिक कार्य कर सकता है, अतः 'शूद्र' का कार्य सेवाकार्य निर्धारित किया है। आज भी अशिक्षित या अल्पशिक्षित चतुर्थ या तृतीय श्रेणी कर्मचारी बनते हैं। उनका नाम सेवक, अर्दली, प्रेष्य, भृत्य, पीयन, आदेशवाहक आदि हैं। शूद्र का भी यही अर्थ है-'**शू द्रवति**' अर्थात् जो स्वामी के आदेशानुसार कार्य निपटाता है, या '**शोच्यां स्थितिमापन्नः द्रवति**' अर्थात् निम्न स्थिति के कारण जो खिन्न रहता है, किन्तु शूद्र शब्द जन्मना जातिवाद के कारण निन्दित अर्थ में प्रयुक्त हो गया।

मनु ने शूद्र को घरों में पाचन, सेवाकार्य आदि सौंपे हैं और उन्हें अतिथि के रूप में घर में आने पर भोजन कराने का विधान किया है। इससे भी बढ़कर दम्पती को आदेश है कि वे अपने भृत्यों (शूद्रों) को स्वयं खाने से पहले खाना खिलायें, फिर आप खायें (मनु. 1.91, 3.116)। यह कितना उच्च सभ्यता, सम्मान और श्रेष्ठ व्यवहार का सूचक है। ऋषि दयानन्द ने भी मनु के अनुसार शूद्रों को पाचन कार्य

वर्णित किया है (उपदेश मंजरी 10)। इस प्रकार मनु की व्यवस्था के अनुसार शूद्र कभी अस्पृश्य नहीं हो सकता। अस्पृश्य की मिथ्या कल्पना जातिवाद ने की है।

मनु के मतानुसार शूद्र सवर्ण एवं आर्य हैं। शूद्रों को चार आर्य वर्णों में परिगणित किया है (मनु. 10.4)। **"वर्णापेतम्.... अनार्यम्"** (मनु. 10.57) से स्पष्ट संकेत है कि मनु वर्णों से बाह्य को अनार्य मानते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने मनु के इस मत को यथावत् स्वीकार कर शूद्रों को आर्य और सवर्ण माना है–

"धर्मसूत्रों की यह बात कि शूद्र अनार्य हैं, नहीं माननी चाहिए। यह सिद्धान्त मनु तथा कौटिल्य के विपरीत है" (शूद्रों की खोज, पृ.42)। तथा **"दुर्भाग्य तो यह है कि लोगों के मन में यह धारणा घर कर गयी है कि शूद्र अनार्य थे। किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि प्राचीन आर्य-साहित्य में इस सम्बन्ध में रंच मात्र भी कोई आधार प्राप्त नहीं होगा।" "शूद्र आर्य ही थे अर्थात् वे जीवन की आर्य-पद्धति में विश्वास रखते थे। शूद्रों को आर्य स्वीकार किया गया था और कौटिल्य के अर्थशास्त्र तक में उन्हें आर्य कहा गया है। शूद्र आर्य समुदाय के अभिन्न, जन्मजात और सम्मानित सदस्य थे"** (अम्बेडकर वाङ्मय, शूद्र और प्रतिक्रान्ति, पृ. 319, 322)।

शूद्र दास भी नहीं था, क्योंकि उसको वेतन देने का विधान है (मनु. 7.125-126; 8.216)। नब्बे वर्ष से ऊपर के शूद्र को अशिक्षित होते हुए भी उच्च वर्णों द्वारा पहले सम्मान देने का आदेश है–**"मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः"** (2.211)। मनु ने **"न धर्मात् प्रतिषेधनम्"** (10.126) तथा शूद्र से धर्म सीखने का कथन करके यह स्पष्ट किया है कि शूद्रों को धर्मपालन का अधिकार था (मनु. 2.138)। ऋषि दयानन्द ने अनेक स्थलों पर **"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। शूद्राय चार्याय"** (यजुर्वेद 29.2) मन्त्र को उद्धृत करके शूद्रों को सभी धार्मिक अधिकार प्रदान किये हैं। डॉ. अम्बेडकर ने भी वैदिक वर्णव्यवस्था में शूद्रों द्वारा वेदाध्ययन किया जाना स्वीकार किया है, जिसका उद्धरण पूर्व दिया जा चुका है।

मनु की दण्ड व्यवस्था में शूद्र को सबसे कम दण्ड का विधान है और ब्राह्मण तथा राजा को सर्वाधिक। क्योंकि शूद्र बुद्धिस्तर और समाजस्तर में निम्न है, अतः उसे दण्ड भी निम्न स्तर का है। ब्राह्मण उच्च है, अतः दण्ड भी अधिक है–

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिःपूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिः तद्दोषगुणविद्धि सः॥ (मनु. 8.337-338)

अर्थात्-किसी चोरी आदि के अपराध में शूद्र को आठ गुणा दण्ड दिया जाता है तो वैश्य को सोलहगुणा, क्षत्रिय को बत्तीस बुणा, ब्राह्मण को चौंसठगुणा, अपितु उसे सौगुणा अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्ड करना चाहिए, क्योंकि उत्तरोत्तर वर्ण के व्यक्ति अपराध के गुण-दोषों और उनके परिणामों, प्रभावों आदि को भली-भांति समझने वाले हैं।

इसके साथ ही मनु ने राजा को आदेश दिया है कि उक्त दण्ड से किसी को छूट नहीं दी जानी है। चाहे वह आचार्य, पुरोहित और राजा के पिता-माता ही क्यों न हों। राजा दण्ड दिये बिना मित्र को भी न छोड़े और कोई समृद्ध व्यक्ति शारीरिक दण्ड के बदले में विशाल धनराशि देकर छूटना चाहे तो उसे भी न छोड़ें। (8.335-347)

जब वर्णव्यवस्था विकृत होकर जन्मना जाति-पांति में बदल गयी तब शिक्षा प्रदान करने के उत्तरदायी ब्राह्मण वर्ग ने दलितों का उपनयन संस्कार बंद करके उनको शिक्षा से वंचित कर दिया। शिक्षा से वंचित होने पर उन्हें 'शूद्र' घोषित कर दिया और फिर वे जातिवाद के कारण पीढ़ी दर पीढ़ी शूद्र कहलाने लगे। धीरे-धीरे उनके साथ रोटी-बेटी के सम्बन्ध भी समाप्त होते गये और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। यह भारतीय समाज के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी।

कुछ लोग भ्रान्तिवश इसकी जिम्मेदारी मनु पर थोप रहे हैं। विकृत व्यवस्थाओं का दोषी तो है परवर्ती समाज, किन्तु उसका अपमानरूप दण्ड मनु को दिया जा रहा है, जो तथ्यात्मक रूप से गलत है।

निष्कर्ष

उक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मनु स्वायम्भुव आदिकालीन राजर्षि हैं। मूलतः मनुस्मृति उन्हीं की रचना है। उसमें समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं। वर्तमान मनुस्मृति में पाये जाने वाले परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध, शैलीविरुद्ध, वेदविरुद्ध आदि श्लोक इस सत्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं। आलोचक केवल आपत्तिजनक श्लोकों को ही उद्धृत करते हैं, मूल श्लोकों को उद्धृत नहीं करते और न यह बताते हैं कि उन्होंने दो विरोधी श्लोकों में एक आपत्तिजनक श्लोक को ही क्यों चुना? वस्तुतः वही प्रक्षिप्त श्लोक है। उन्हीं श्लोकों में जन्मना जातिवादी, शूद्रविरोधी और नारीविरोधी कथन पाये जाते हैं। वैदिक या मनु की वर्णव्यवस्था जन्मना जातिवाद पर आधारित नहीं है। जो लोग स्वयं को वैदिक या आर्य कहते हैं, उन्हें या तो जन्मना जातिवाद को नहीं मानना चाहिए अथवा स्वयं को वैदिक या आर्य कहना छोड़ देना चाहिए।

✦✦✦

वैदिक ऋतु-विभाग

–आचार्य डॉ. धर्मवीर वैदिक, दिल्ली

ऋतुपरक विभाग के द्वारा ऋतुएं छः होती हैं, जिसके कारण वर्ष छः भागों में बंट जाता है। ये छः ऋतुएं हैं–शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् एवं हेमन्त। इन छः ऋतुओं का निर्माण पृथ्वी द्वारा अपनी एक विशेष कोण स्थिति में घूमते-घूमते सूर्य परिक्रमा करने से होता है। हमारे सौरमंडल का केन्द्राधिपति सूर्य हमारे लिए प्रकाश-उत्ताप-शक्ति आदि का प्रदाता है। इसके चारों ओर पृथ्वी आदि ग्रह अपनी-अपनी विशेष दूरी एवं कोण पर स्थित धुरी पर लट्टू की तरह घूमते-घूमते इसकी परिक्रमा भी करते रहते हैं। पृथ्वी के अपनी धूरी पर घूमते-घूमते सूर्य की परिक्रमा करने से पृथ्वी का जो भाग जब सूर्य के सम्मुख पड़ता है वहां दिन कहलाता है तथा शेष भाग पर रात्रि। पृथ्वी की लम्बोत्तर धूरी अक्षतल से कुछ इस प्रकार का लघुकोण बनाए हुए है कि इसका उत्तरी ध्रूव वाला सिरा सूर्य से परे को रहता है तथा भूमध्य रेखा वाला एवं उसका परवर्ती भूखण्ड सूर्य के सम्मुख। धुरी के इस विशेष कोण या झुकाव के कारण पृथ्वी के कुछ भागों पर (विशेषतया भूमध्य रेखा से उत्तर में स्थित भारत भूखण्ड पर) कभी तो सूर्य रश्मियां बिल्कुल सीधी पड़ती हैं, (तब यहां ग्रीष्म ऋतु तथा उत्तरायण एवं आदान काल होता है)। और कभी तिरछी (तब यहां शीत तथा दक्षिणायन एवं विसर्गकाल) रहता है। इस प्रकार क्रमशः उष्णतापरक एवं शीतपरक ऋतुएं बनती हैं। शीत के अंतर्गत शरद-हेमन्त-शिशिर ये तीन ऋतुएं आती हैं और शीत की कमी होने पर वसन्त ऋतु आती है, उसके बाद ग्रीष्म। ग्रीष्मकालीन उत्ताप वृद्धि होकर प्रतिक्रिया स्वरूप वर्षा ऋतु आती है। इस प्रकार छहों ऋतुएं बनती हैं। यह ऋतु विभाग शार्ङ्गधर संहिता अनुसार राशिपरक भी होता है।[1]

संवत्सर में छः ऋतुओं का यह सम्मिलन विविध कार्य-व्यवहार के लिये माना गया है। ऋतुचर्या के लिए शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त इन छः ऋतुओं में संवत्सर का विभाग किया गया है तथा संशोधान के लिए हेमन्त, वसन्त,

---

1. ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तौ प्रावृण मिथुनकर्कयोः।
   सिंहकन्ये स्मृता वर्षास्तुलावृश्चिकयोः शरत्।
   धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः। (शार्ङ्गधर संहिता, पूर्वखण्ड-2:35-36)

ग्रीष्म, प्रावृट (वर्षा का पहला मास) वर्षा-शरद इन छह में। अर्थात् यह ऋतु विभाग पारमार्थिक नहीं, अपितु व्यावहारिक एवं बुद्धिकृत है।

चक्रपाणि ने चरक की टीका करते हुए कहा है-[1]

यूरोप अमरीक आदि देशों में वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, पतझड़, शीत ये पांच ऋतुएं मानी जाती है। इस ऋतविभाग के संदर्भ में 'उदगयनम्-उत्तरायण, उत्तर दिशा में जाने एवं स्थिर रहने का काल। (Sun's northern course) सूर्य का मार्ग पूर्व-पश्चिम दिशा गामी होने पर भी इन दिनों झुकाव कुछ उत्तर दिशा में रहने के कारण इस छः मास की अवधि वाले काल को उदगयन या उत्तरायण कहते हैं। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी जिस दीर्घ वर्तुलाण्डाकार (elliptical) अक्षपथ पर रहती हुई घूमती है और वर्षभर में एक चक्कर पूरा करती है। उस पथ के समान 30 अंश वाले 12 विभाग बिंदु इस आधार पर माने जाते हैं कि तब अन्तरिक्षगत कुछ विशेष तारासमूह (constellations) सीध में दृश्य होते हैं। उन 12 तारासमूहों को सूर्य के क्रांतिपथ की राशियां (Science of the Zodiac) कहते हैं। जिस समय इन राशियों की अवधारणा की गई थी तब विशेष-विशेष तारासूमह तत्रत् विभाग बिंदु पर दृश्य थे। वे अब उन बिंदुओं पर सीधे रूप में दृश्य या सम्वर्ती न होने पर भी उनके आधार पर राशियों के नाम चले ही आ रहे हैं। उन राशियों के नाम तत्तत तारासमूहों की स्थिति, आकृति गत विशेषता के आधार पर रखे गये थे। तद्यथा-

उत्तरायण

राशि	**काल**
मकर या मृग (Capricorn, Goat)	14 जनवरी से 12 फरवरी
कुम्भ (Aquarius, Water-carrier) जलवाह	13 फरवी से 12 मार्च
मीन (Pisces, Fishes)	13 मार्च से 12 अप्रैल
मेष (Aries, Ram)	13 अप्रैल से 13 मई
वृष (Taurus, Bull)	14 मई से 13 जून
मिथुन (Gemini, Twins), युग्ग	14 जून से 14 जुलाई
दक्षिणायन	
कर्क (Cancer, Crab), कर्कट	15 जुलाई से 15 अगस्त
सिंह (Leo, Lion)	16 अगस्त से 15 सितम्बर

1. मेलकश्च बुद्ध्या व्यवह्रियते न तु परमार्थतः ऋतूनाम् मेलकोऽस्ति

कन्या (Virgo, Virgin)	16 सितम्बर से 15 अक्टूबर
तुला (Libra, Balance)	16 अक्टूबर से 14 नवम्बर
वृश्चिक (Scorpio, Scorpion)	15 नवम्बर से 14 दिसम्बर
धनुष (Sagittarius, Archer) धनुर्धर, धनुः	15 दिसम्बर से 13 जनवरी

इनमें से मकर संक्रांति 14 जनवरी से 6 मार्च तक, अर्थात् मकर-कुम्भ-मीन-मेष-वृष-मिथुन राशियों का काल उत्तरायण कहलाता है क्योंकि इन राशियों के समय पृथ्वी के उत्तरी भाग के प्रति सूर्य की कुछ समीपता रहता है और सूर्य पूर्व-पश्चिम पथ पर रहता हुआ भी उत्तर दिशा की ओर कुछ झुका रहता है। मकर संक्रांति के दिन (14 जनवरी) से सूर्य का उत्तर की ओर झुकाव प्रारम्भ होता और मीन राशि की समाप्ति (12 अप्रैल) पर सूर्य की किरणें भूमध्य रेखा के प्रदेश पर सीधी पड़ रही होती हैं। उसके बाद मेष राशि के प्रथम दिन (13 अप्रैल) से सूर्य रश्मियों का झुकाव भूमध्य रेखा से उत्तर की ओर बढ़ता जाता है जिससे उत्तरी गोलार्ध में ग्रीष्म की उष्मा अधिक होती जाती है जो मिथुन राशि की समाप्ति (14 जुलाई) तक चलती है। उसके बाद सूर्य उत्तरायण समाप्त करके कर्क राशि के प्रारम्भ काल (15 जुलाई) से दक्षिणायन के कारण दक्षिण दिशा की ओर झुकने लगता है। दक्षिणायन में कन्या राशि की समाप्ति (15 अक्टूबर) पर सूर्य की किरणें पुनः भूमध्य रेखा पर सीधी पड़ती हैं। दक्षिणायन की परम सीमा धनुष राशि के काल की समाप्ति वाले दिन (13 जनवरी) होती है। जिससे अगले दिन पुनः उत्तरायण का प्रारम्भ होता है। प्रख्यात ज्योतिष ग्रंथ सूर्य सिद्धान्त के शब्दों में[1] उत्तरायण काल में माघ-फाल्गुन-चैत्र-बैशाख-ज्येष्ठ-आषाढ़ छह मास होते हैं तथा शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म ये तीन ऋतुएं होती हैं।[2]

प्रसंगवश दक्षिणायण काल में श्रावण-भाद्रपद-आश्विन- कार्तिक-मार्गशीर्ष-पौष ये छह मास होते हैं तथा वर्षा-शरद्-हेमन्त ये तीन ऋतुएं होती हैं।[3]

उत्तरायण-दक्षिणायण के इस संदर्भ में यह अवधेय है कि यह विभाजन भारतवर्ष भूखण्ड पर विशेष प्रभावक होता है क्योंकि भारतवर्ष की भूमण्डल पर अवस्थिति कुछ विशेष ही प्रकार की है। भूमण्डल पर भारत की स्थिति भूमध्य रेखा से उत्तर में 80 अक्षांश एवं 350 अक्षांश रेखाओं के बीच में है। कर्करेखा (Tropic

---

1. भानोर्मकरसङ्क्रान्ते षण्मासा उत्तरायणम्।
   कर्कादेस्तु तथैव स्यात् षण्मासा दक्षिणायणम्।।
2. शिशिराद्यैस्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्। (अष्टांगहृदय सूत्र 3:2)
3. ऋतवो दक्षिणायणम् वर्षादयो विसर्गश्च (अष्टांगहृदय सूत्र 3:4-5)

of Cancer) भारतवर्ष के आड़े रूख पर मध्य से काटती है। फलतः भारतवर्ष को सूर्य के उत्तरायण का तो समुचित लाभ मिलता है परंतु दक्षिणायन कालीन शीत बहुत अधिक नहीं झेलना पड़ता। इसी कारण भारतवर्ष में छहों ऋतुएं, दोनों अयन, अहोरात्र, पक्ष आदि कालकृत परिवर्तन एवं लाभ समतुलित (Equi-balanced) रूप में प्राप्त होते हैं। जबकि अधिक उत्तर एवं अधिक दक्षिण की ओर वाले देशों में शीत सीमातित रूप में प्रबल होता है, ध्रुवों पर अति शीत के अतिरिक्त छः-छः मासों वाले दिन एवं रात होते हैं। भूमध्य रेखा पर या समीप में स्थित प्रदेशों में गर्मी एवं वर्षा अति प्रबल होती है। अर्थात् भारत से इतर प्रदेशों में ऋतु वैषम्य शीत-उष्ण-वर्षा प्रबलता, दिन रात की विषमता या दीर्घता आदि कठिनताएं अधिक सहनी पड़ती हैं।

आदान : सूर्य द्वारा पृथ्वी के सौम्यांश को एवं प्राणियों के जल-बल को लेने-खींचने वाला काल।[1]

इस काल में सूर्य पृथ्वी से जल को सोखता है तथा शरीर में बल एवं सौम्य भावों का ह्रास होता जाता है। रूक्षता, शुष्कता, निर्बलता बढ़ती जाती है। यह आदान (Period of absorption) संज्ञा व्यवहारार्थ रखी गयी है, परमार्थतया नहीं। इसमें शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म ये तीन ऋतुएं एवं माघ, फाल्गुन, चैत्र, बैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ ये छः मास होते हैं। शिशिरादीन ग्रीष्मान्तान-शिशिर ऋतु के प्रारम्भ से लेकर ग्रीष्म पर्यन्त तीन ऋतुओं को आदान काल कहा है।

दक्षिणायन-सूर्य के पूर्व-पश्चिमगत पथ पर आरूढ़ रहने पर भी दक्षिण की ओर झुकाव वाला छः मास का काल जिसमें कर्कट से धनुष तक की छः राशियां रहती हैं इसे ही विसर्ग काल कहा है। जिस काल में सूर्य पृथ्वी के प्रति जलीय सौम्य अंश को तथा प्राणी मात्र के प्रति बल को विसृष्ट करता है देता है।[2]

इस काल में सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु आदि की तथा प्रकृति की स्थिति ऐसी रहती है कि पृथ्वी पर जल एवं सौम्य अंश की वृद्धि होती है तथा प्राणिमात्र का भी बल बढ़ता है और सूर्य का संताप भी घटता है-इसीलिए विसर्ग (Period of Liberation) ऐसी व्यावहारिक संज्ञा की गयी है। विसर्ग में वर्षा, शरद्, हेमन्त ये तीन ऋतुएं एवं श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष ये छः मास रहते हैं।

---

1. आददाति क्षपयति पृथिव्या सौम्यांशम् प्राणिनाम् च बलमित्यादानम्-चक्रपाणि, आदानं च तदादत्ते नृणाम् प्रतिदिनम् बलम्। (अष्टांग हृ. सू. 3:2)
2. विसर्गश्च यद्प्रबलं विसृजत्ययम् (अ.हृ.सूत्र 3:5) यद यस्माद्बलमयं कालो विसृज्यति ददाति दक्षिणायनाख्यैस्तस्माद्विसर्गोऽन्वर्थ संज्ञः कालः।

काल चक्र

Phenomanal cycle

विद्युत् शक्त्युत्पादकता की पूर्ति

ब्रह्मा The erea Power of the Univers grand centre, which regulates धर्म the men value and virture of internal.

विष्णु नाभि – Universal magnetism = सार्वभौमिक आकर्षण शक्ति का अतिसमीपवत्तर्ती बिन्दु, महत् केन्द्र – Grand Centre Autumnal Equinose

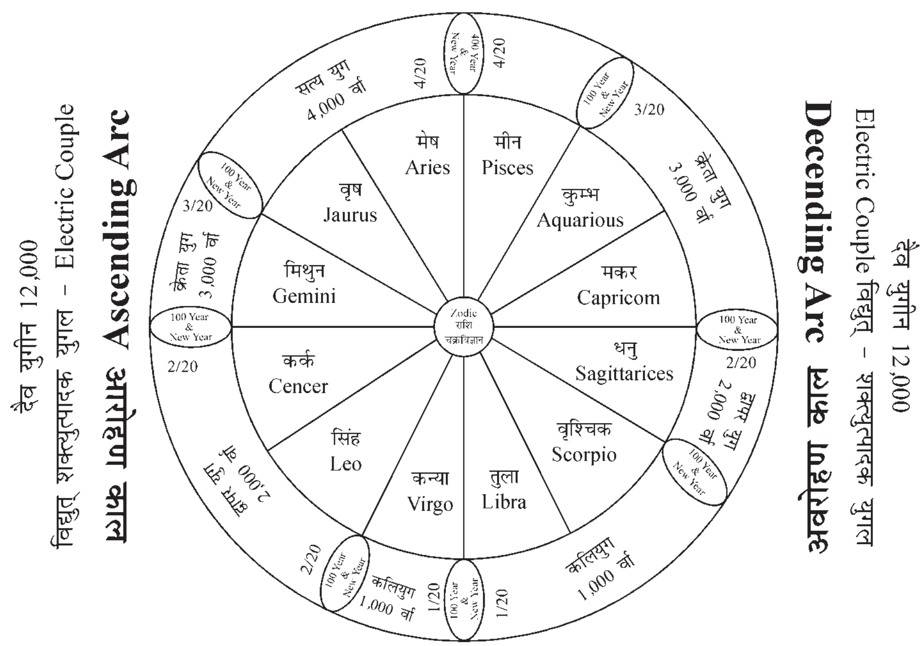

वासन्ति कधरा सम्पात Vernal Equin

सार्वभौमिक आकर्षण शक्ति से सुदूरवर्त्ती बिन्दु – farthest point from the universal magnatism The Grand Centre ब्रह्मा Universal Creative power

(सौजन्य से **–स्वामी युक्तेश्वर गिरी जी**)

विसर्ग काल

	वैदिक मास नाम	**प्रचलित मास नाम**
वसन्त	मधु–माधव	चैत्र–बैशाख
ग्रीष्म	शुचि–शुक्र	ज्येष्ठ–आषाढ़
वर्षा	नभ–नभस्य	श्रावण–भाद्रपद

आदान काल

शरद	इष-उर्ज	अश्विन-कार्तिक
हेमन्त	सह-सहस्य	मार्गशीर्ष-पौष
शिशिर	तप-तपस्य	माघ-फाल्गुन

यजुर्वेद में ऋतुमास संदर्भ[1] सुश्रुत संदर्भ।[2]

✦✦✦

1. वसन्त-मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां (यजु. 13/25)
ग्रीष्म-शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां (यजु. 14/6)
वर्षा-नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतूऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां (यजु. 14/15)
शरद्-इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां (यजु. 14/16)
हेमन्त-सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां (यजु. 14/27)
शिशिर-तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतूऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां (यजु. 15/57)
2. तत्र माघादयो द्वादशमासाः संवत्सरः द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड् ऋतवो भवन्ति। ....तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः मधुमाधवौ वसन्तः, शुचि शुक्रो ग्रीष्मः नभोनभस्यौ वर्षा, इषोर्जौ शरत्, सहः सहस्यौ हेमन्त इति। (सु.सू. 6/6)

अथर्ववेद का यथार्थस्वरूप

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

सम्पादक, वैदिक वाग् ज्योतिः

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

*(अथर्ववेद के विषय में फैली मिथ्या धारणाओं का निराकरण कर अथर्ववेद के यथार्थस्वरूप को लेखक ने अग्रलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत उद्घाटित किया है–1. अथर्ववेद की प्राचीनता और त्रयीविद्या में अथर्ववेद का स्थान, 2. अथर्ववेद में जादू-टोना, गण्डा-ताबीज आदि मिथ्या धारणाओं का आधार तान्त्रिक कौशिक द्वारा कृत अलीक विनियोग और उनकी समीक्षा, 3. आथर्वणिक मन्त्रविद्या–**सम्पा.**)*

1. अथर्ववेद की प्राचीनता

मनुष्य जाति के प्राचीनतम ग्रन्थ[1] ऋग्वेद में चारों वेदों का नाम आने के कारण[2] चारों वेद ही संसार के सर्वप्राचीनग्रन्थ हैं। जितना पुराना ऋग्वेद है उतने ही पुराने यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भी हैं। पुनरपि पाश्चात्य लेखकों और कुछ भारतीय विद्वानों का मत है अथर्ववेद अर्वाचीन है। यह पहले नहीं था। इसका बहुत सा भाग बाद में मिलाया गया है।[3] वाङ्मय के व्यापक अध्ययन करने पर यह बात गलत लगती है। अथर्ववेद की प्राचीनता के पोषक अनेक प्रमाण अन्तःसाक्षी के रूप में[4] वेदों में ही विद्यमान हैं। बाह्यप्रमाणों[5] की तो इस विषय में भरमार है। इस विषय

---

1. प्रियव्रत वेदवाचस्पति, *वेद और उसकी वैज्ञानिकता*, श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, प्रथम संस्करण, 1990, पृ. 119 से 121
2. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत। 10/90/9
3. पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, *वेदों का यथार्थस्वरूप*, जनज्ञान प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 292
4. ऋक् 4/35/6, अथर्ववेद 10/7/14, 20; 11/7/24, 15/6/7, 19/9/12
5. शतपथ ब्राह्मण 14/5/4, ऐतरेय ब्राह्मण 25/7, गोपथ ब्राह्मण 1/1/16 व 3/1, छा.उ. 7/7/1 मनु. 1/23, महाभाष्य पस्पशाह्निक में–"चत्वारो वेदाः सांगाः......", वा.रा. कि.का. 3/28, वा.रा. बा.का. 8/6, महाभारत द्रो.प. 21/22, महाभारत व.प. 187/14, महाभारत शा.प. 70/50, पद्मपुराण 5/1/50, ता.ब्रा. 12/9/10, अथर्ववेद 19/9/12 पर सायण भाष्य, चरकसंहिता अ. 30 में–"चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानाम्।"

में वेदों की अन्त:साक्षी के प्रबलतम प्रमाणों में निम्न मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है–

(1) **सो अंगिरोभि:**[1]---अर्थात् वह अथर्ववेद पढ़ने वालों के साथ।

(2) **अथर्वभ्योऽवतोकाम्**[2]---अर्थात् गर्भसन्तान निकली हुयी स्त्री अथवा गौ की चिकित्सार्थ, अथर्वभ्य:=अथर्ववेदी को दे।

अथर्ववेद अर्वाचीन नहीं है। अन्यथा अथर्ववेद के अर्वाचीन होने पर ऋग्वेदादि के मन्त्रों में अथर्ववेद का नाम नहीं आया होता। ऐसा लगता है कि यह भ्रम पाश्चात्य विचारकों को 'त्रयीविद्या' शब्द के प्रयोग को देखकर हुआ है। 'त्रयीविद्या' का ठीक-ठीक अर्थ तो 'मीमांसाशास्त्र' के अध्ययन से ही ज्ञात हो सकता है।[3] जहाँ 'त्रयीविद्या' का प्रयोग चारों वेदों में प्रयुक्त तीन प्रकार की गद्य, पद्य और गीतिमय शैली व भाषा प्रकार के आधार पर है, जिन्हें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के नाम से कहते हैं। 'सर्वानुक्रमणी' की भूमिका में षड्गुरुशिष्य ने इसके बारे में लिखा है कि यद्यपि वेद चार हैं तथापि ऋग्, यजु., साम अर्थात् पद्य, गद्य और गानरूप से वेदमन्त्रों का तीन प्रकार भेद किया जाता है।[4] अत: त्रयी कहने से यह परिणाम निकालना गलत है कि वेद तीन थे अथर्ववेद बाद में आया है। ऋक्, यजु:, और साम का क्रमश: पद्य, गद्य और गीति (गान) अर्थ करके चारों वेदों के लिए त्रयीशब्द का प्रयोग भी उत्तरकालीन है। उससे भी उत्तरकालीन आचार्यों ने इन अर्थों की उपेक्षा करके त्रयी शब्द से केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ग्रहण करके अथर्ववेद को त्रयी संज्ञा से पृथक् कर दिया। यही सोच पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा का आधार बनी। जिस शतपथ ब्राह्मण में चारों वेदों का नाम सहित उल्लेख मिलता है[5] उसी में यह भी लिखा है कि विद्या भेद से वेद त्रयी कहाते हैं।[6] महाभारत[7] में नामोल्लेखपूर्वक चार वेद और उनमें प्रतिपादित तीन विद्याओं का एक साथ वर्णन करके महर्षि व्यास ने इस विषय को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वहाँ लिखा है–

---

1. ऋग्वेद 1/100/4
2. यजुर्वेद 30/15
3. तत्र ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजु: शब्द:। (मी.द. 2/10/32-34)
4. विनियोक्तव्यरूपश्च, त्रिविध: स: प्रदर्श्यते। ऋग्यजु:सामरूपेण, मन्त्रो वेदचतुष्टये।।
   अहो बुध्निय मन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते। चतुर्ष्वपि हि वेदेषु, त्रिधैव विनियुज्यते।।
5. एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदो अथर्ववेद:। (14वां काण्ड)
6. त्रयी वै विद्या-ऋचो यजूंषि सामानि इति (4/6/7)
7. शान्तिपर्व 235/1

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तमथांगतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा।।

इस श्लोक में त्रयीविद्या के साथ चार वेदों का उल्लेख होने से स्पष्ट हो जाता है कि त्रयीविद्या वेदचतुष्टय का ही दूसरा नाम है। अथर्ववेद को विषयवैविध्य और छन्दों के वैविध्यपूर्ण बाहुल्य के कारण ब्रह्मवेद, क्षत्रवेद, छन्दांसि, छन्दोह और छन्दोवेद के नाम से भी कहा जाता है।[1] हरिवंश पुराण में तो छन्दों की इस बहुलता के कारण ही छन्दांसि पद का प्रयोग अथर्ववेद के पर्यायवाची विशेषण के रूप में किया गया है–

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्याः सविस्तराः।।

छन्द शास्त्र में भी चार संख्या का बोध वेद शब्द से ही होता है। ऋग्वेद 10/71/11 और 4/58/3 मन्त्रों की निरुक्तानुसारी व्याख्या के अनुसार वेद चतुष्टय में अथर्ववेद भी सम्मिलित है।[2] ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में एक मन्त्र समानरूप में प्रयुक्त हुआ है जिसके द्वारा चारों वेदों की वाणी का स्पष्ट निर्देश हुआ है।[3] अथर्वा शब्द का अर्थ स्थिरबुद्धि पुरुष[4] है जो कि अथर्ववेद में विशेषरूप से निष्णात हो। ऐसे अथर्वा का निर्देश ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में हुआ है।[5] इस प्रकार अथर्ववेद के ऋग्वेदादि के समान प्राचीन और प्रामाणिक होने में कोई सन्देह का कारण नहीं। वेदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों जैसे–मुण्डकोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में भी अन्य वेदों के साथ अथर्ववेद का नाम आया है।[6] ऐतरेय ब्राह्मण में तो अथर्ववेद के विशेष ज्ञाता को सबसे अधिक धर्मात्मा ब्रह्मा कहा गया है।[7] यही नहीं पारसी धर्म के प्राचीन धर्मग्रन्थ 'गाथा' में भी महात्मा जरथुस्त्र एक

---

1. गोपथ ब्राह्मण 1/29, अथर्ववेद 15/7/78, ऋग्वेद 9/113/6
2. निरुक्त 2/7 और अध्याय 13
3. पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया। पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो:।। ऋग् 8/60/9, यजु. 20/43, साम.पूर्वा. आग्नेय काण्ड, चतुर्थ दशतिः, चतुर्थ खण्ड, मन्त्र 2 (क्र.मं.सं.साम. 36) उपर्युक्त मन्त्र में सभी भाष्यकारों का ऐकमत्य है कि एकया, द्वितीयया, तिसृभिः तथा चतसृभिः से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की वाणियों से रक्षा की प्रार्थना की गई है।
4. थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। नि. 11.2.13
5. ऋग् 1/83/5, 6/16/13, यजुर्वेद 11/32/15, 22, साम.पूर्वा. आग्नेय काण्ड प्रथम दशति मन्त्र 9
6. का.सं. 40/7, मु.उ. 1/1/5, बृ.उ. 4/5/11, तै.ब्रा. 3/12/8, छा.उ. 7/1/2
7. अथर्वक्षेत्रवान् ब्रह्मा वेदेष्वन्येषु भगवान्। तस्माद् ब्राह्मणं धर्मिष्ठमिति ह्यारण्यके श्रुतम्।।5/8

पुराने ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करते हैं, अथर्वा की प्रशंसा करते हैं और उसी अंगिरा की प्रशंसा करते हैं जिसका अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध है।[1] अंगिरा अथर्व का ही वाचक है, क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि अथर्व अंगिरा विराट् का मुख है।[2] इस तरह अथर्ववेद की प्राचीनता और प्रामाणिकता विषयक सैकड़ों प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार ऋग्वेद ज्ञानप्रधान, यजुर्वेद कर्मप्रधान, सामवेद उपासना प्रधान एवं अथर्ववेद ज्ञान प्रधान वेद है।[3] तीन वेदों में जो विद्याएँ हैं, उन सबके शेष भाग की पूर्ति का विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृत्ति के लिए अथर्ववेद है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सृष्टि के आदि से ही वेद चार हैं। जीव की अपेक्षा से पूर्ण वेदचतुष्टय का ज्ञान परमपिता परमात्मा ने सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नाम के मानव देहधारी ऋषियों के अन्तःकरण में गीर्ण किया।[4] ऋग्वेद के ज्ञान सूक्त के अनुसार सृष्टि के आदि में शब्दों के नामरूप को ग्रहण करते हुए ऋषियों के हृदय में बृहस्पति ने अपनी श्रेष्ठ वाणी को प्रेरित किया।[5] हृदयगत प्रेरणा के लिए किसी के मुख से सुनना आवश्यक नहीं होता। 'स्वयंतदन्तःकरणेन गृह्यते'–हृदय में हुई प्रेरणा को शुद्धान्तःकरण वाला व्यक्ति अनायास ही ग्रहण कर लेता है। अग्नि आदि ऋषि जिनका परमेश्वर ने अपने ज्ञान को संक्रमण के लिए वरण किया उनमें अथर्ववेद का ज्ञान प्राप्त करने वाले पवित्र आत्मा अंगिरा भी थे। ये सब दीर्घकाल तक मोक्ष में रहकर लौटने वाले जीव थे। अतः एव वे इस महान् कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त थे।[6]

---

1. ज्वलन्त कुमार शास्त्री, *वेद और वेदार्थ,* श्री घूडमल प्रह्लाद कुमार, आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन सिटी, राजस्थान, 2009 द्वितीय संस्करण के पृ. 317 पर उद्धृत गाथा, य. 18/12
2. अथर्वांगिरसो मुखम्, अथर्व. 10/7/20, स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार–"एवमेव यस्य ईश्वरस्यांगिरसो अथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति" (ऋ.भा.भू. वेदोत्पत्ति प्रकरण) अर्थात् अथर्ववेद सभी वेदों में मुख्य है।
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती, **ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका,** सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली, प्रथम संस्करण संवत् 2039, वेद विषय विचार प्रकरण, पृ. 40
4. स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, **वेद मीमांसा,** विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क दिल्ली, 1997, पृ. 70 और 72
5. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः। 10/71/1
6. स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, **वेद मीमांसा,** विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क दिल्ली, 1997 पृ. 71

2. अथर्ववेद में जादू-टोना, गण्डा-ताबीज आदि मिथ्या धारणाओं का आधार तान्त्रिक कौशिक द्वारा कृत अलीक विनियोग और उनकी समीक्षा

अथर्ववेद के सम्बन्ध में यह धारणा बद्धमूल हो चुकी है कि यह जादू-टोना का वेद है। प्रो. मैक्डोनल ने अपने ग्रन्थ संस्कृत लिटरेचर में ऐसा ही भाव प्रकट किया है। इसके प्रभाव से दासगुप्ता, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पं. बलदेव उपाध्याय आदि अनेक भारतीय विद्वान् भी अछूते नहीं रहे हैं।[1] अथर्ववेद विषयक सब भ्रान्तियों के प्रमुख जन्मदाता हैं कौशिक, जिन्होंने अपने कौशिकसूत्र में अनेक विनियोग ऐसे किये हैं, जिनसे अथर्ववेद का एक भ्रान्त चित्र पाठक के सम्मुख उपस्थित होता है। सायण ने अथर्ववेद भाष्य के अपने उपोद्घात में कौशिक सूत्र, वैतानसूत्र, शान्तिकल्प, आंगिरस्कल्प तथा अथर्वपरिशिष्ट में प्रतिपादित प्रमुख अथर्ववेदीय विषयों का परिगणन किया है तथा लिखा है कि इतरसूत्रों का उपजीव्य होने के कारण कौशिकसूत्र ही सबसे प्रधान हैं। कौशिक सूत्र ने जो विनियोग दिये हैं, उनमें से अधिकांश जादू-टोना या मन्त्र-तन्त्र की कल्पना से ओतप्रोत हैं। क्योंकि सायण भाष्य के उपजीव्य ये ही विनियोग हैं। भाष्य आरम्भ करते हुए सायण ने लिखा है कि कौशिक सूत्र आदि में प्रोक्त कर्मों में ये विनियोग दिखलाकर मैं अथर्ववेद की शौनकीय संहिता का अर्थ प्रकाशित करूंगा।[2] यदि सायण कौशिक के प्रचारक न बनकर स्वतन्त्र रूप से अपना भाष्य करते तो सम्भवतः अथर्ववेद के जादू-टोने का वेद होने की आंधी इतनी जोर से न फैलती, इसीलिए अरविन्द ने 'वेद रहस्य' पुस्तक के पूर्वार्द्ध भाग (अनु. आचार्य अभयदेव) में लिखा है कि 'यह मेरा सौभाग्य था कि मैंने वेद का सायणभाष्य पहले नहीं पढ़ा था। अन्यथा सम्भव है मैं उसी प्रवाह में बह जाता और वेदों में जिस आध्यात्मिक तत्त्व के दर्शन मैंने किये हैं, उसे न कर पाता।' और वास्तव में मूल दोष सायण का भी नहीं है, उसका दोष इतना ही है कि उसने वेदों पर स्वतन्त्र विचार न कर कौशिक आदि के पुराने विनियोगों को, चाहे वे तर्क संगत थे चाहे अतर्कसंगत, उसी रूप में स्वीकार कर लिया। अरविन्द के शब्दों में "सायण ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी।" जो कि अथर्ववेद के विषय में कौशिक आदि के द्वारा फैलाई गई भ्रान्त धारणाओं की प्रचारक बनी। जिसका अनुकरण पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने किया। जो पाठक कौशिक के विनियोगों को बिना देखे अपनी बुद्धि से मूल अथर्ववेद को पढ़ेगा उसके मन में कौशिककृत विधिविधान कभी नहीं आ सकते, यह कौशिकीय विनियोग के

---

1. पं. रामनाथ वेदालंकार, **आर्ष ज्योति**, समर्पण शोध संस्थान, साहिबाबाद, प्रथम संस्करण 1991, पृ. 80
2. शाखायाः शौनकीयायाः पूर्वोक्तष्वेव कर्मसु। विनियोगाभिधानेन संहितार्थः प्रकाश्यते।।

काल्पनिक तथा स्वेच्छाप्रसूत होने में प्रबल युक्ति है। ऐसा सामवेदभाष्यकार पं. रामनाथ वेदालंकार ने लिखा है।[1] वस्तुतः विनियोगकार अपने विनियोगों के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है, वेद पर उसका उत्तरदायित्व नहीं है। 'विनियोग' पद 'वि' और 'नि' उपसर्गपूर्वक योग शब्द से बना है। 'वि' का अर्थ विशेषरूप से और 'नि' का अर्थ निश्चितरूप से है। 'योग' शब्द का अर्थ है जुड़ना, मिलना, जोड़ना (युजिर् योगे) आदि। किसी मन्त्र को किसी कार्य में, किसी कर्मकाण्ड में विशेष प्रकार से निश्चितरूप से जोड़ लेना, उस मन्त्र का कर्मकाण्ड में विनियोग है। अथर्ववेद के हजारों मन्त्र ऐसे हैं, जिन्हें हम उद्धृत कर सकते हैं। दयानन्दीय विचारधारा के अनुसार मन्त्रार्थ को विनियोग से स्वतन्त्र होकर उसके प्रकरण-सन्दर्भ, पद-पदार्थ के अनुकूल करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मन्त्रार्थ अपने सन्दर्भ में विनियोग से स्वतन्त्र है और विनियोग मन्त्रार्थ का अनुगामी रहे। मन्त्रार्थ को विनियोग के पीछे चलाना या पद-पदार्थ की उपेक्षा करके विनियोग के अनुसार अर्थ को तोड़ना-मरोड़ना अन्याय है। मन्त्रार्थानुसार ही विनियोग उचित है न कि विनियोग के अनुसार अर्थ। अन्ततः किस मन्त्र का कहाँ, किस कर्मकाण्ड में विनियोग हो, कहाँ विनियोग न हो, यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। मन्त्र तो अपौरुषेय है, परमेश्वर ने मानव के कल्याणार्थ उन्हें प्रदान किया। किस मन्त्र में क्या पद है, क्या छन्द है, क्या पूर्व है, क्या पर है, यह सब प्रभु प्रदत्त होने के कारण प्रश्न कोटि से ऊपर हैं। किन्तु कर्मकाण्ड और उनमें करणीय क्रियायें, क्रियाओं में पठनीय मन्त्र, किस मन्त्र को पढ़कर कौन-सी क्रिया की जाए, यह सब निर्णय निर्धारण परवर्ती काल में किया गया है। अथर्ववेद संहिता में लगभग छः हजार मन्त्र हैं, कोई भी मन्त्र कहीं भी नहीं पढ़ा जाता। कहाँ, किस कर्म में किस मन्त्र को पढ़ा जाये, हजारों मन्त्रों में से चुनना है, यह सब परवर्ती काल में निर्धारित किया गया है। उनके चुनने का आधार तो मनमानी हो नहीं सकता, कोई आधार तो होना ही चाहिए, और वह आधार अर्थ को छोड़कर अन्य तो बिल्कुल होना ही नहीं चाहिए। अतः अर्थ के आधार पर ही विनियोग होना उचित है। किसी भी मन्त्र का कहीं भी विनियोग मनमानी करके फिर मन्त्रार्थ को विनियोग के अनुसार करना अनुचित है। जो कि अथर्ववेद के यथार्थस्वरूप को उद्घाटित नहीं करता। तर्क व विज्ञान की कसौटी से यह कोसों दूर और मिथ्या धारणाओं का उत्स है अब हम कतिपय मन्त्र तन्त्रमूलक कौशिकीय विनियोगों पर दृष्टिपात करते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि जिस सूक्त या मन्त्र पर वे विनियोग लिखे हैं, उस सूक्त या मन्त्र से क्या वे प्रमाणित होते हैं?

---

1. पं. रामनाथ वेदालंकार, **आर्ष ज्योति,** समर्पण शोध संस्थान, साहिबाबाद, प्रथम संस्करण 1991, पृ. 82

अथर्व 1.17.1-4 मन्त्रों का **"योषितः धमन्यश्च"** नामक देवताक सूक्त है। इसमें स्त्रियों के आर्तव का आधिक्य, नाड़ियों से रक्त स्राव, पथरी के कारण रक्त स्राव आदि के निरोध का वर्णन है। कौशिक का विनियोग इस प्रकार है-शस्त्रघात आदि से उत्पन्न रुधिर प्रवाह तथा स्त्री के रजोधर्म के अतिप्रवाह की निवृत्ति के लिए पाँच पर्व वाले दण्ड से रुधिर वहन स्थान को अभिमन्त्रित करें, व्रण के मुख पर गली की धूल, रेत आदि प्रक्षिप्त करे, सूखी कीचड़ या खेत की क्यारी की मिट्टी बांधे और पिलाएं।[1] मंत्रों में यह प्रक्रिया कहीं वर्णित नहीं हुई है। वैद्यगण उत्कृष्ट औषधियों के द्वारा रक्त प्रवाह को रोकने का इससे अच्छा विनियोग कर सकते हैं, जिसमें अभिमन्त्रित करने की कोई बात न हो निश्चय ही उनका प्रयोग अधिक सफल होगा। अथर्व. 2.1.1-5 **'परमं धाम'** नामक सूक्त है, जिसमें ब्रह्म की महिमा वर्णित की गयी है और यह कहा गया है कि मेधावी और दीप्तप्रज्ञ मनुष्य ही उसका दर्शन कर सकता है तथा वेदज्ञ एवं वाणी पर अधिकार रखने वाला व्यक्ति ही उसका प्रवचन करने में समर्थ होता है। कौशिक ने इसका विनियोग 'मनोवांछित फल सिद्ध होगा या असिद्ध' इसका पता लगाने में किया है-"पांच पर्वों वाला वेणुदण्ड, काम्पील वृक्ष की शाखा या रथयुग को इस सूक्त के मन्त्रों से अभिमंत्रित करके, अभीष्ट कार्य को मन में सोचकर, समतल प्रदेश में ऊँचा खड़ा करके छोड़ दें। यदि वे वेणुदण्ड आदि सोची हुई दिशा में गिरें तो कार्यसिद्धि जाने। बाण को धनुष पर सन्धान करके इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर अग्नि में छोड़ दें, यदि ज्वाला दक्षिण दिशा में जाए तो इष्टसिद्धि होगी। जुए के पासों को अभिमन्त्रित कर फेंके, अभीष्ट संख्या आये तो कार्यसिद्धि जाने। हाथों की दो अंगुलियां अभिमन्त्रित कर कार्य को सोचें, उद्दिष्ट अंगुलि का स्पर्श होने पर अभिलषित सिद्धि समझें। इसी प्रकार खोये हुए द्रव्य का पता लगाने तथा विवाह से पूर्व कुमारी के सौभाग्यदि की परीक्षा में भी इस सूक्त का विनियोग कौशिक ने किया है। पानी का घड़ा, हल या जुए के पासों को नवीन वस्त्र से लपेट कर संपातित तथा अभिमन्त्रित कर जिसका रजोदर्शन प्रारंभ नहीं हुआ है ऐसी दो कुमारियों को कहे कि इसे ले जाओ। वे जिस दिशा में ले जाएं, उसी दिशा में खोया हुआ द्रव्य मिलेगा, ऐसा जाने। विवाह से पूर्व कुमारी के सौभाग्यादि लक्षणों के ज्ञान के लिए आकृतिलोष्ठ (क्षेत्रमृत्तिका), वाल्मीकलोष्ठ, चतुष्पथलोष्ठ और श्मशानलोष्ठ इन चार प्रकार की मृत्तिकाओं को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर कुमार को कहे कि इनमें से किसी एक को उठा लो। यदि वह आकृतिलोष्ठ को उठाये तो उसका कल्याण होगा, चतुष्पथलोष्ठ को उठाये तो वह बहुचारिणी होगी, श्मशानलोष्ठ को उठाये तो उसकी मृत्यु हो जाएगी, ऐसा जाने। दूसरी यह विधि भी

1. कौ.सू. 26.9-12

कर सकते हैं कि कुमारी की अंजलि में जल भर कर इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर उसे कहे कि इच्छानुसार किसी दिशा में इसे फेंक दें। यदि वह पूर्व दिशा में फेंके तो समझें कि उसका कल्याण होगा।[1] सूक्त का प्रतिपाद्य विषय प्रारंभ में हम बता चुके हैं। उससे इन विनियोगों का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। सायण ने भी कौशिकसूत्र को उद्धृत करते हुए सूक्त के आरम्भ में ये विनियोग दिये तो हैं, किन्तु मन्त्रार्थ में इनका कोई उपयोग नहीं किया है। अथर्व. 2.15.1-6 **'अभयप्राप्तिः'** नामक सूक्त है। इसमें मनुष्य अपने प्राण को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि जैसे द्यौ और पृथिवी, सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म और क्षत्र, सत्य और अनृत, भूत और भव्य भयभीत नहीं होते, अतएव विनाश को प्राप्त नहीं करते, वैसे ही हे मेरे प्राण, तू भी भयभीत मत हो। कैसा सुन्दर आत्मोद्बोधन है! इस सूक्त का विनियोग यही हो सकता है कि जब हम किसी संकटपूर्ण कार्य को करने लगें, तब इस सूक्त का पाठ करते हुए अपने अन्दर शक्ति-संचय करें। किन्तु कौशिक ने इसका विनियोग किया है कि जिसे दीर्घायुष्य की कामना हो वह इस सूक्त से स्थालीपाक ओदन को शान्त्युदक से संप्रोक्षित तथा अभिमन्त्रित कर खा लें,[2] जिसकी कोई चर्चा सूक्त में नहीं है। यदि कौशिक यह कहता कि दीर्घायुष्य के लिए इस सूक्त का अर्थज्ञानपूर्वक पाठ करता हुआ अपने प्राण को निर्भय और सबल बनाये, तब तो संगत हो सकता था। अथर्व. 2.26.1-5 **'पशुसंवर्धनम्'** नामक सूक्त है। इसमें गोपालन और गौओं के दूध, घी आदि से स्वयं तथा परिवार के अन्य सदस्यों पुत्र, पत्नी आदि के पुष्टि प्राप्त करने का वर्णन है। तद्नुसार ही इसका विनियोग होना चाहिए। परन्तु कौशिक कहते हैं कि जिसे गो-पुष्टि की कामना हो वह बछड़े की लार से मिश्रित ताजा दूध इस सूक्त से अभिमन्त्रित करके पी ले, गौ को अभिमन्त्रित करके दान करे तथा जलपात्र को अभिमन्त्रित करके गोष्ठ के मध्य में ले जाए।[3] पर इन विधियों से गो-पुष्टि कैसे सम्भव है? गो-पुष्टि तो गो-सेवा से ही हो सकती है। अथर्व. 3.19.1-8 **'अजरं क्षत्रम्'** नामक सूक्त है। इसमें शक्तिसंचय करने, शस्त्रास्त्र का बल बढ़ाने, अपने वीरों को उद्बोधन देने एवं शत्रु-विजय करने का वीरतापूर्ण वर्णन है। इसके कौशिक-प्रोक्त विनियोगों में से एक यह है कि जब शत्रुसेना को उद्वेलित करना हो तब इस सूक्त से घृत की आहुति देकर श्वेत पैरों वाली बकरी या भेड़ को अभिमन्त्रित करके शत्रुसेना के प्रति छोड़ दें।[4] सूक्त का वीररसपूर्ण एक मन्त्र इस प्रकार है-

---

1. कौ.सू. 37.3-12
2. वही, 54.11
3. वही, 19.14-17
4. वही, 14.22

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया॥[1]

अर्थात् 'हे राजन्' आपकी सेना के गजारोही, अश्वारोही, रथारोही, पदाति सब सैनिकों के बल हर्षित हों। विजय लाभ करते हुए वीरों के सिंहनाद आकाश में गूंजें। पृथक्-पृथक् दलों के झण्डे आकाश में लहरायें। विजय सूचक 'उल्लुलुलु' के घोष ऊपर उठें। ज्येष्ठ सेनापति सहित देदीप्यमान, मरने-मारने के लिए तैयार सैनिक सेना बांध कर चलें'।[2] इसका भला अभिमन्त्रित बकरी को शत्रुसेना के प्रति छोड़ने से क्या सम्बन्ध है? अथर्व. 3.30.1-7 **'सांमनस्यम्'** नामक प्रसिद्ध सूक्त है। इसमें यह भावना व्यक्त की गयी है कि परिवार में सौहार्द, सांमनस्य, अविद्वेष, पारस्परिक प्रीति, पिता-माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन आदि के बीच मधुर वाणी, प्रेम-व्यवहार, मिलकर खान-पान करना, मिलकर अग्निहोत्र करना आदि होना चाहिए। इसके विनियोग में कौशिक लिखते हैं कि इस सूक्त द्वारा सांमनस्य-कर्म में ग्राम के मध्य संपातित जलकुम्भ और सुराकुम्भ को घुमाएं, त्रिवर्षवत्सिका गौ के मांस-खण्डों का तथा संपातित अन्न का भोग और संपातित सुरा का पान करायें।[3] क्या इन क्रियाओं को करने से परस्पर सांमनस्य उत्पन्न हो जाएगा? वस्तुत: सांमनस्य तो तब उत्पन्न हो सकता है, जब परिवार के सदस्य प्रतिदिन अर्थबोधपूर्वक इन मन्त्रों का पाठ करते हुए अपने अन्दर पारस्परिक सौहार्द की भावना को जागरित करें। अथर्व. 4.2.1-8 **'आत्मविद्या'** नामक सूक्त है, जिनमें देव परमेश्वर की महिमा वर्णित की गयी है कि वह आत्मिक शक्ति और शारीरिक बल का दाता है, उत्तम प्रकाशक है, जड़-चेतन जगत् का राजा है और पृथ्वी का धारण करने वाला लोकलोकान्तरों का निर्माता तथा सृष्टि को उत्पन्न करने वाला है, उसी की पूजा करनी योग्य है। परन्तु कौशिक ने इसका विनियोग वन्ध्या गौ का वध करके उसे शान्ति प्राप्त कराने तथा उसके अंगों का होम करने में किया है। इस सूक्त का जप करके उसके लिए शान्त्युदक छोड़ें। यदि काटी हुई उस गौ का अचानक गर्भ दीख जाए तो उस गर्भ को अञ्जलि में लेकर इस सूक्त से अग्नि में आहुति दें।[4] देखिए, सूक्त के साथ कैसा अत्याचार किया गया है। अथर्व. 4.15.1-16 **'वृष्टि'** नामक सूक्त है। दिशाएँ बादलों से उमड़ पड़ें, प्रचुर वर्षा हो, मेंढक प्रसन्नता से बोलने लगें, औषधियां लहलहा उठें आदि

---

1. अथर्व. 3.19.6
2. पं. रामनाथ वेदालंकार, *आर्ष ज्योति*, समर्पण शोध संस्थान, पृ. 85
3. कौ.सू. 12.5.6
4. वही, 44.1-4, 45.1

प्रार्थना इन मन्त्रों में की गयी है। यह आतप से व्याकुल मनुष्यों की भावाभिव्यक्ति है। कौशिक विनियोग करते हैं कि जिसे वर्षा की कामना हो वह मरुतों अथवा मन्त्रोक्त देवताओं के प्रति आज्यहोम करे। काश, दिविधुवक तथा वेतस औषधियों को एक पात्र में रखकर सम्पातित तथा अभिमन्त्रित कर जल में अधोमुख ले जाए और प्रवाहित कर दे। कुत्ते और मेंढे के सिर को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर पानी में फेंक दें। मनुष्य के केश और पुराने जूतों को बाँस के अग्रभाग में बाँध कर खड़ा करें। तुषासहित कच्चे मृत्पात्र पर अभिमन्त्रित जल छिड़क कर तीन पैरों वाले छींके में रखकर पानी में फेंक दें।[1] वर्षा की कामना होने पर वृष्टियज्ञ करना तो वैदिक है, शेष सब मन्त्र-तन्त्र की बातें कपोल-कल्पित हैं। अथर्व. 4.31 तथा 4.32 दोनों **मन्युसूक्त** हैं, जिनमें प्रत्येक में सात-सात मन्त्र हैं। इनमें मन्यु के मूर्त रूप सेनानी को शत्रुविजय के लिए उद्बोधन दिया गया है। इन पर कौशिक के कुछ विनियोग इस प्रकार हैं-स्वसेना और परसेना के मध्य में खड़ा होकर दोनों सेनाओं की ओर देखता हुआ इनका जप करे। भंग और मूँज के पाशों को अथवा कच्चे पात्रों को इन सूक्तों से सम्पातित और अभिमन्त्रित करके शत्रुसेना के सञ्चार स्थलों में फेंक दें। जय-पराजय-विज्ञान के लिए शरतृणों को दोनों सेनाओं के मध्य में रखकर इन सूक्तों से अभिमन्त्रित कर आङ्गिरस अग्नि से जलाये। जिस सेना में धुआँ पहुँचे उसका पराजय होगा, यह जाने।[2] अथर्व. 5.6.1-14 मन्त्रों का **ब्रह्मविद्या** विषयक सूक्त है, जिसमें प्रथम ब्रह्म का वर्णन कर यह प्रार्थना की गयी है कि तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों वाले सोम और रुद्र शत्रु की हिंसा कर हमें सुखी करें। अग्नि को सम्बोधन कर कहा गया है कि जो आँख से, मन से, विचार से, संकल्प से हमें पापी बनाना चाहें, उन्हें तू अपने शस्त्र से निहत्था कर दे। अन्त में इन्द्र की शरण में जाने का संकल्प व्यक्त किया गया है। इस पर कौशिक के कुछ विनियोग इस प्रकार हैं-रोगी निरोग हो जाएगा या नहीं यह जानने के लिए तीन स्नायु-रज्जुओं को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर अंगारों पर रख दें। यदि वे ऊपर चली जाएँ तो समझें कि रोगी जीवित रहेगा।[3] संग्राम में किसका जय या पराजय होगा, यह जानना हो तो तीन स्नायु-रज्जुओं को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर लें। फिर एक रज्जु अपनी सेना है, दूसरी मध्य की रज्जु मृत्यु है, तीसरी रज्जु शत्रु-सेना है, यह मन में सोचकर उन्हें अंगारों पर रख दें। जिसके ऊपर मृत्यु-रज्जु चली जाए, उसका पराजय होगा। जो मृत्यु-रज्जु के ऊपर चढ़ जाएगी, उसकी जीत होगी। जो सामने की ओर चली जायेगी, उसकी भी

---

1. कौ.सू. 41.1-7
2. वही, 14.26-31
3. वही, 15.12-14

विजय होगी।[1] इसी प्रकार स्त्री के प्रसवदोष में और सूतिकारोग में इस सूक्त से भात को अभिमन्त्रित कर खिलाए तथा मथे हुए सत्तु को अभिमन्त्रित कर खिलाए तथा मथे हुए सत्तु को अभिमन्त्रित कर पिलाएं।[2] अथर्व. 5.18.1–15 और अथर्व. 5.19.1–15 ये दोनों **ब्रह्मगवीसूक्त** नाम से प्रसिद्ध हैं। जो राजा ब्राह्मण की गौ को खाता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है तथा उसका राष्ट्र तेजोविहीन हो जाता है, यह इन सूक्तों में प्रतिपादित किया गया है। विद्वान् व्याख्याकारों ने यहाँ गौ का अर्थ वाणी लिया है। ब्रह्मवित् ज्ञानी ब्राह्मण की वाणी या परामर्श की उपेक्षा करने का उक्त दुष्परिणाम राजा को भोगना पड़ता है, यह तात्पर्य है। यदि गौ का अर्थ यहाँ गाय पशु अभिप्रेत होता तो केवल ब्राह्मण की ही गाय को खाने का निषेध क्यों किया गया, गाय तो किसी भी वर्ण की क्यों न हो, अवध्य तथा अभक्ष्य है। कौशिक ने इन दोनों सूक्तों का विनियोग अभिचार–कर्म में किया है। यदि कोई ब्राह्मण की गौ को हरे, मारे, काटे, पकाए, खाए तो ब्रह्मचारी उस विद्वेषी का मन में ध्यान करके इन सूक्तों को जपें, तीन बार कहें कि वह मर जाए, बारह रात्रि व्रतपूर्वक रहे, द्वादशरात्र व्यतीत होने पर दूसरे दिन जब सूर्य उदित होगा तब शत्रु मरा मिलेगा।[3] यहाँ यह अभिचारकर्म कौशिक का स्वाविष्कृत है। अथर्व. 6.80.1–3 मन्त्रों का **'अरिष्टक्षयणम्'** नाम सूक्त है। इसमें 'दिव्य श्वा के तेज से और हवि से रोग–निवारण (अरिष्टताति) का वर्णन है। यह 'दिव्य श्वा' साधारण कुत्ता नहीं, किन्तु द्युलोकवर्ती सूर्य है। तृतीय मन्त्र में इस दिव्य श्वा का परिचय इस रूप में दिया गया है कि जलों में तेरा जन्म है, द्युलोक में तेरा घर है, समुद्र, बादल और पृथ्वी में तेरी महिमा है–**अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्र अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम्।** अब इस पर कौशिक का विनियोग देखिए–यदि कोई अंग कौए, कबूतर, बाज आदि पक्षी से विक्षत हो जाए तो कुत्ते के पैर के नीचे की मिट्टी लेकर उसे इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर विक्षत अंग पर उसका लेप कर दें।[4] अथर्व. 7.116.1–2 मन्त्रों का **'ज्वरनाशनम्'** नामक सूक्त है। जिसमें उष्णज्वर, शीतज्वर, दो दिन छोड़ कर आने वाला ज्वर आदि ज्वरों को दूर से ही नमस्कार करते हुए यह भावना व्यक्त की गयी है कि हम उन्हें निश्चय ही नष्ट कर देंगे। इस पर कौशिककृत विनियोग यह है–सब ज्वरों को दूर करने के लिए ज्वरग्रस्त की शय्या के नीचे सिरकियों से कसे हुए एक मेंढक को नीले–लाल दो सूत्रों से बाँध कर रख दें और ज्वरग्रस्त के ऊपर इस सूक्त की दोनों ऋचाओं के द्वारा अभिमन्त्रित जल के छींटे दें। कह सकते हैं कि मेंढक में ज्वर के चले जाने

---

1. कौ.सू. 15.15–18
2. वही, 28.15–16
3. वही, 48.13–22
4. वही, 31.18–19

का संकेत मन्त्र में भी आया है- **यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्येत्वव्रतः** (मन्त्र 2)। पर यहाँ मण्डूक शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय मण्डूकपर्णी आदि किसी औषधि से है। यदि मेंढक में ज्वर को हरने की क्षमता होती तो वर्षा ऋतु में, जबकि आस-पास मेंढक ही मेंढक रहते हैं, यह रोग न फैलता। कौशिक ने मन्त्र में मण्डूक शब्द देखकर उपर्युक्त टोटके का अविष्कार कर लिया है। इस प्रकार के टोटके कौशिकसूत्र में भरे पड़े हैं, जिनका मन्त्रार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अनेक विनियोग मारण, उच्चाटन, वशीकरण, कृत्यानिर्हरण, अभिचार, मणि-बन्धन आदि परक भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कौशिक एक तान्त्रिक था, जिसने अथर्ववेद का उपयोग अपनी तन्त्रविद्या के प्रचार के लिए किया परवर्ती सायण आदि विद्वान् बिना देखे-भाले उसी का अन्धानुकरण करते रहे।

वस्तुतः पूर्वकृत विनियोगों का वेद के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। कौशिक ने भी एक-एक सूक्त पर कई-कई विनियोग लिखे हैं तथा इतर आचार्यों ने उनसे भिन्न स्वतन्त्र ही विनियोग दिखाए हैं। अतः स्वामी दयानन्द की परख-कसौटी के अनुसार वे ही विनियोग मान्य हैं जो युक्तिसिद्ध एवं वेदादिप्रमाणानुकूल हों तथा मन्त्रार्थ से सम्पुष्ट होते हों।

3. आथर्वणिक मन्त्रविद्या

अथर्ववेद के अधिकांश मन्त्रों में आयुर्वेदिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रयोग प्रतिपादित हैं जिन्हें भ्रम से जादू-टोने समझ लिया जाता है। अथर्ववेद में जिस प्रकार की मन्त्रविद्या है उसको विद्वानों ने पाँच विभागों में विभक्त किया है[1]-

1. संकल्प या आवेश
2. अभिमर्श और मार्जन (Mesmerism)
3. आदेश (Hypnotism)
4. मणिबन्धन
5. कृत्या और अभिचार

3.1 संकल्प या आवेश

संकल्प या आवेश के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं। इन उदाहृत मन्त्रों में कहीं पाप को हटाने, रोग को दूर करने, हस्तिबल को अपने अन्दर धारण करने एवं

---

1. प्रियरत्न आर्ष (स्वामी ब्रह्ममुनि) *अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या,* गुरुकुल स्वाध्याय मंजरी का 13वाँ पुष्प 1940, पृ. 1-2

कहीं सफलता प्राप्ति के लिए संकल्प शक्ति को अपने अन्दर धारण करने की चर्चा है–

हे मेरे मन के पाप! तू दूर हट।[1]

हे मन के स्वामी बने हुए पाप! तू जुदा होजा, हट जा, परे होजा।[2]

मेरे दायें हाथ में कर्म और बायें हाथ में विजय है।[3]

हाथी के तेज जैसा तेरा तेज राष्ट्र में फैले, यह तेज महायश का उत्पादक है।[4]

3.2 अभिमर्श और मार्जन (Mesmerism)

यह शरीर में सनसनाहट उत्पन्न करने वाले स्पर्श का नाम है। अभिमर्श से अनेक रोग तथा मानसिक दोष दूर किये जा सकते हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस अभिमर्श विद्या को मैस्मरिज्म (Mesmerism) के नाम से कहते हैं। अभिमर्श–विद्या के मूल मन्त्र निम्नलिखित हैं –

अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥[5]

अर्थात् यह मेरा हाथ भाग्यवान्, यशस्वी है, यह मेरा अत्यधिक भाग्यवान् वा यशस्वी है। (अयं मे विश्वभेषजः) यह सुख–शान्ति के स्पर्श वाला है। दसों अंगुलियों सहित हाथों से तथा आरोग्यकारक इन हाथों से (त्वा अभि मृशामसि) हे प्यारे रोगिन्! हम तेरा स्पर्श करते हैं तथा शुद्ध प्रबल वाणी द्वारा तुझे नीरोग होने का आदेश देते हैं।

यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब प्रेमयुक्त पवित्र भावना के साथ इस प्रकार रोगी के शरीर के अवयवों का स्पर्श किया जाता है और उसके अन्दर यह भावना भरी जाती है कि उसका रोग और कष्ट क्रमशः दूर होता जा रहा है तो उसका प्रभाव

---

1. परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। अथर्ववेद 6.45.1
2. अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर। अथर्ववेद 20.96.24
3. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्ववेद 7.58.8
4. हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो आदित्या यत् तन्वः संबभूव। अथर्ववेद 3.22.1
5. अथर्ववेद 4.13.6, 7

रोगी पर भी अवश्य पड़ता है और वह अपने रोग तथा तज्जन्य कष्ट में कमी अनुभव करता है।

इसी हस्ताभिमर्श के साथ सम्बन्ध रखने वाली वस्तु मार्जन वा पुरश्चरण है जो जल, वस्त्र वा कूर्च (बाल विशेषत: चवरी गौ की पूंछ के बाल इत्यादि) के साथ किया जाता है। इस का भी सम्बन्ध मनोविज्ञान, आयुर्वेद तथा जीवन विद्या के साथ है। इसे भी जादू-टोना समझ लेना भूल है।

3.3 आदेश (Hypnotism)

आदेश विद्या और संवशीकरण का भी अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में प्रतिपादन है। आदेश से प्राय: सभी रोगों में लाभ होता है, किन्तु मानसिक और मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों में तो विशेष लाभ होता है। किसी पात्र (व्यक्ति) पर प्रभाव डालने के लिए पहले उसके मन को अपनी ओर खींचना चाहिए जिसे-

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥[1]

इत्यादि मन्त्रों की भावना द्वारा किया जाता है जिनमें कहा गया है कि तुम्हारा जो मन इधर-उधर गया हुआ है उसे मैं अपनी ओर खींचता हूँ। वह मन मेरे में ही रमण करे।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत। मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥[2]

इसमें रोगियों को सम्बोधन करते हुए प्रयोजक आदेश देता है कि मैं तुम्हारे मनों और चित्तों को अपने मन और चित्त के साथ मिला देता हूँ। तुम्हारे हृदयों को मैं अपने वश में कर लेता हूँ जिससे तुम मेरे अनुगामी बन कर रहो। इस प्रकार आदेश द्वारा रोगी को अपना अनुगामी बनाकर प्रयोजक उनकी ईर्ष्या, उन्माद आदि को दूर करने का प्रयत्न करता और प्राय: उसमें सफलता प्राप्त करता है। आत्म-विश्वास के साथ वह रोगी को सम्बोधित करते हुए कहता है कि-

अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि॥[3]

अर्थात् हे प्यारे रोगिन्! यदि तेरा मन उचाट हो गया या अव्यवस्थित हो गया

---

1. अथर्ववेद 7.13.4
2. वही, 3.8.6
3. वही, 6.111.2

हो तो अग्नि उसे शान्त कर दे और मैं विद्वान् ऐसे साधन तेरे लिए प्रस्तुत करूँगा जिससे तू उन्मादरहित हो जाए। अग्नि जलाकर उसमें कपूर, चन्दन, तुलसी-बीज आदि डालकर हवन करने से उन्माद रोगी को लाभ होता है ऐसा मन्त्र में बताया गया है। यक्ष्म ज्वर वा क्षय रोग को दूर करने के लिए भी वेदों में आदेश निम्न मन्त्रों द्वारा बताया गया है-

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्मम् अंगेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम्॥[1]

अर्थात् तू भयभीत न हो। तुझे मैं दीर्घायु बनाता हूँ। मैं तेरे अङ्ग-अङ्ग से ज्वर को दूर कर देता हूँ। तेरा जो अङ्गों का टूटना, अङ्गों में ज्वर, हृदय रोग इत्यादि है उन सब को मैं वाणी तथा हवनादि के प्रभाव से दूर कर देता हूँ। एक और मन्त्र का उल्लेख इस प्रकार है-

उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथम् अथ जिर्विर्विदथमावदासि॥[2]

हे पुरुष! तेरी सदा उन्नति हो, कभी तेरी अवनति न हो। तेरे उत्तम जीवन के लिए मैं तेरी शक्ति का विस्तार करता हूँ। इस अमृतमय शरीर रथ पर तू सवार हो जा और फिर वृद्ध तथा अनुभवी होकर लोगों को ज्ञान का उपदेश कर।

इस प्रकार आदेश विद्या के मन्त्रों से अथर्ववेद के अनेक सूक्त भरे पड़े हैं। इन्हें भी जादू-टोने का नाम देना भूल है।

3.4 मणिबन्धन

अथर्ववेद की शौनक संहिता में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिन्हें मणि सूक्त कहा जाता है,[3] जैसे कि-

1. अभीवर्तमणि 1.29
2. जङ्गिडमणि 2.4, 19.34, 19.35

---

1. अथर्ववेद 5.3.8, 9
2. वही, 8.1.4
3. इनमें से अधिकांश ऐसे सूक्त हैं जिनमें 'मणि' शब्द भी साथ प्रयुक्त हुआ है। कुछ ऐसे भी सूक्त हैं जिनमें पूरे सूक्त में कही भी इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ फिर भी आचार्य सायण ने मणि सूक्त के रूप में स्वीकार किया है, जैसे-अश्वत्थमणि (अथर्ववेद 3.6) शकलमणि (1.29) आदि।

3. पर्णमणि 3.5	4. अश्वत्थमणि 3.6
5. शङ्खमणि 4.10	6. प्रतिसरमणि 8.5
7. वैयाघ्रमणि 8.7	8. वरणमणि 10.3
9. फालमणि 10.6	10. दर्भमणि 19.28-30, 32-33
11. औदुम्बरमणि 19.31	12. शतवारमणि 19.36
13. अस्तृतमणि 19.46	

सायणादि वैनियोगिक भाष्यकारों के अनुसार उपर्युक्त मणिसूक्तों में वर्णित पदार्थों को उस सूक्त में वर्णित मन्त्रपाठ पूर्वक छोटे-छोटे खण्डों के रूप में शरीर के किसी अंग पर बाँधकर अथवा किसी अन्य प्रकार से प्रयोग में लाकर अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए तथा अनिष्ट के निवारण के लिए जादू-टोने के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यह सब 'मणि' शब्द के अर्थ को ठीक से न समझने तथा मन्त्रों के आशय को भी ठीक से न समझ सकने के कारण किया जाता है। ध्यान से देखने पर ऐसे मन्त्रों का कुछ अन्य ही आशय सामने आता है। 'मणि' शब्द और 'रत्न' शब्द किसी भी अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान् वस्तु को कहा जाता है।[1] इसी अर्थ में अथर्ववेद में 'मणि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] इसलिए बोलचाल की भाषा में पुरुष के वीर्य को भी 'मणि' कहा जाता है, क्योंकि स्वास्थ्य आदि की दशा तथा वंशवृद्धि के लिए वीर्य से बढ़कर और कोई उपयोगी और श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। व्यावहारिक भाषा में इसी कारण किसी प्रतिष्ठित पण्डित या महान् कवि आदि को कविशिरोमणि कविरत्न और पण्डित शिरोमणि और पण्डित रत्न आदि शब्दों से सम्मानित किया जाता है। इन मणिसूक्तों में जिस पदार्थ का वर्णन है, वह पदार्थ अपने प्रयोजन को पूरा करने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान् होता है, इसीलिये उसे 'मणि' कह दिया जाता है।[3] मन्त्रों में कहीं-कहीं 'मणि' से बांधने का उल्लेख भी आता है।[4] मन्त्र के इस कथन का भाव उसे किसी ताबीज की भाँति बाँधने का नहीं होना चाहिए। उसे भली-भाँति अपने वश में करना, उससे उपयोग लेना, उसका

---

1. वामन शिवराम आप्टे, *संस्कृत-हिन्दीकोष,* नाग प्रकाशक दिल्ली, षष्ठ संस्करण 1996 पृ. 846 पर उल्लिखित *जातौ-जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते* (मल्लिनाथ) Anything best of kind.
2. अथर्ववेद 2/4, 15/2 आदि सूक्त।
3. आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, *वेद और उसकी वैज्ञानिकता,* श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार प्रथम संस्करण 1990 पृ. 360
4. बध्नामि, बध्नात् आदि पदों का संबन्धित मणिसूक्तों में प्रयोग।

सेवन करना आदि भाव लेना चाहिए।[1] क्योंकि बन्धन केवल धागे आदि द्वारा ही नहीं होता। योगदर्शन के **'देशबन्धः चित्तस्य धारणा'** (3.1) सूत्र में नासिकाग्र आदि में चित्त को बाँधने का भी कथन हुआ है। धारणा योगाङ्ग है। इसी प्रकार मणिसूक्तों में **बध्नात्** आदि पदों का अर्थ भी यथोचित ही करना चाहिए। अथर्ववेदीय मणिसूक्त काव्यमयी आलंकारिक भाषा में लिखे गये हैं, और उसी रूप में इन मन्त्रों के बाँधने आदि शब्दों का लोक प्रसिद्ध साधारण अर्थ न लेकर उनका अन्तर्निहित तात्पर्यार्थ ही देखना चाहिए। पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने इन धागा, ताबीज आदि के जादू-टोने के रूप में बाँधने को केवल विश्वास की चीज मानते हुए लिखा है कि **यह केवल भावना की कल्पना है।**[2] डॉ. कपिल देव द्विवेदी के अनुसार-'अथर्ववेद में मणि के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि प्रत्येक वृक्ष में कुछ गुण होते हैं। वे गुण उसकी शाखा और पत्तों आदि में भी होते हैं। उस वृक्ष के फल आदि के सेवन से जो लाभ प्राप्त हो सकता है वह उसकी शाखा को पास में रखने से भी प्राप्त हो सकता है। इसलिए विशेष वृक्षों के मनके बनाकर उन्हें शरीर पर बाँध लेते हैं या उन्हें गले में लटका लेते हैं। विशेष वृक्ष में होने वाले सभी गुण उनके मनकों या मणियों के द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते हैं। वृक्ष जिन रोगों आदि को दूर करता है, उसकी मणियां या मनके भी उन रोगों को दूर कर सकते हैं।[3] 'पुनर्नवा' नामक औषधि के छोटे-छोटे मनके बनाकर उसकी माला गले में इस तरह पहनी जाये कि शरीर को स्पर्श करती रहे तो पीलिया रोग में यह औषधि प्रभावकारी सिद्ध होती है। यह तो हमारा अनुभूत प्रयोग है। इसी तरह मणिसूक्तोक्त औषधियों के आयुर्वेदिक प्रयोग तरह-तरह से अथर्ववेद में इङ्गित हैं। उक्त भाषा भाष्यों के अनुसार उपर्युक्त मणिसूक्तों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं-(1) आयुर्वेदपरक, (2) राजनीतिपरक।

उपर्युक्त मणिसूक्तों में से 'वरण', 'फाल', 'जङ्गिड' और 'अश्वत्थ' मणियों की उभयविध व्याख्या हो सकती है। ऐसा हमारे अध्ययन से ज्ञात हुआ है। आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ 'वेद और उसकी वैज्ञानिकता' के पृ. 366 पर लिखा है कि गम्भीर अध्ययन, मनन, चिन्तन, अनुसन्धान करने पर तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों से सहायता लेने पर प्रायः सभी मणिसूक्तों की किसी न किसी औषधि परक सुन्दर व्याख्या हो सकती है' यह कथन कुछ सत्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि

---

1. सेवित शङ्खभस्म आदि को शरीर में अनुपान की सहायता से दृढ़बन्ध करना।
2. जंगिडमणि (अथर्ववेद 2/4) का भाषा-भाष्य।
3. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, प्रथम संस्करण, पृ. 362

आर्यभाषा-भाष्यों के अनुसार तो उपर्युक्त 13 मणिसूक्तों में से आधे से अधिक राजनीतिपरक व्याख्यात हैं। फिर आचार्य प्रियव्रत का कथन कैसे सत्य माना जा सकता है? उपर्युक्त दो वर्गों में विभक्त मणिसूक्तों का स्वारस्य इस प्रकार है-

(क) आयुर्वेदपरक मणिसूक्त-

1. जङ्गिडमणि – इस मणि का वर्णन अथर्ववेद के 2.4 तथा 19.34-35 इन तीन सूक्तों में प्राप्त होता है। अथर्व. 2.4 सूक्त के भाष्य की उत्थानिका में जङ्गिडमणि की महिमा बताते हुए आचार्य सायण ने लिखा है कि जो व्यक्ति कृत्या (हिंसा) से बचना चाहता हो, अपनी रक्षा करना चाहता हो तथा विघ्नों की शान्ति चाहता हो, वह जङ्गिड पेड़ से बनी विशेष प्रकार की मणि को शण (सन) के धागे में पिरोकर मणि बाँधने की विधि से इस सूक्त के मन्त्रों को पढ़कर बाँध ले।[1]

जङ्गिड कोई इस प्रकार की मणि नहीं है जिसको सूक्त के मन्त्र पढ़कर बाँधने से वह जादू-टोने के रूप में हिंसा आदि विपत्तियों से किसी की रक्षा कर सके। यह एक प्रकार की औषधि ही है। अथर्व. 19.34.9 मन्त्र में जङ्गिड को भूमि पर उत्पन्न होने वाली वनस्पति कहा गया है।[2] अथर्व. 19.34.9 में ही इसे रोगों का निवारण करने वाली औषधि कहा गया है, तथा अथर्व. 19.35.1 में इसे भेषज अर्थात् रोगों की चिकित्सा करने वाली औषधि कहा गया है।[3] एवं अथर्व. 2.4.3 तथा 19.35.5 में इसे विश्वभेषज अर्थात् अनेक प्रकार के रोगों का निवारण करने वाली औषधि बताया गया है। अथर्व. 2.4.5 मन्त्र में कहा गया है कि जङ्गिड के साथ शण (सन) नामक औषधि का प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। जङ्गिड औषधि जंगलों में प्राप्त होती है तथा सन की खेती की जा सकती है। यह औषधि रोग-बाधा से शिथिल होकर गतिशून्य अंगों को गति प्रदान करती है।[4] किसी रोग या घाव आदि के कारण शरीर के किसी स्थान का मांस गल गलकर गिर रहा हो तो (विशरात्) यह औषधि उसे

---

1. 'दीर्घायुत्वाय' इति सूक्तेन कृत्यादूषणार्थम् आत्मरक्षार्थं विघ्नशमनार्थं च जङ्गिडाख्य वृक्षविशेषमणिं शणसूत्रप्रोतं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। 'दीर्घायुत्वायेति मन्त्रोक्तं बध्नाति' इति सूत्रम् (कौ. 5.6)। तत्र 'जङ्गिडोऽसि' इति प्रथमद्वितीयाभ्यां (19.34-35) सूक्ताभ्यां 'वायव्यां वातवात्यायाम्' इति (न.क. 17) विहितायां वायव्याख्यायां महाशान्तौ जङ्गिडवृक्ष-निर्मितं मणिं बध्नीयात्।
2. उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ। अमीवाः सर्वाश्चातयञ्जहि रक्षांस्योषधे।।
3. इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः। देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम्।।
4. शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम्। अरण्यादन्य आभृत कृष्या अन्यो रसेभ्यः।। 2.4.5, बृहते रणाय (2.4.1)

भी ठीक करती है।[1] इसी मन्त्र में इस औषधि को सहस्रवीर्य अर्थात् बड़ी भारी गुणकारी शक्तिशाली भी बताया गया है। यह औषधि किसी के द्वारा शरीर को काट देने से बने घाव (कृत्या) आदि को भी ठीक कर देती है। इस औषधि के प्रयोग से कन्धों के जकड़ जाने का रोग (संस्कन्ध) भी ठीक हो सकता है।[2] यह औषधि सब प्रकार के अर्थात् अनेक प्रकार के रोगों (अमीवा) को ठीक करती है। यह औषधि बल की क्षीणता (बलास), पीठ के रोगें (पृष्ट्यामय) तथा कष्टदायक ज्वरा (तक्मा) आदि को भी शान्त करने की शक्ति रखती है।[3] इस सूक्त में जो अराति अर्थात् शत्रुओं को मारने की[4] बात कही है तथा जो राक्षसों को मारने की बात[5] कही है, उसका तात्पर्य रोगजनक कृमिरूप शत्रुओं से समझना चाहिए।

अथर्ववेद में जङ्गिडमणि के जो गुण माने गये हैं राजनिघण्टु में भी प्रायः वे ही गुण **'वच'** के बताए गए हैं। अतः विद्वानों ने जङ्गिड से **'वचा'** का अभिप्राय लिया है।[6] पं. दामोदर सातवलेकर[7] ने 'वचा' और 'जङ्गिड' की तुलना इस प्रकार की है–

वचा के गुण

वैद्यकग्रन्थ के शब्द	**इस सूक्त (2.4) के शब्द**
1. आयुष्या	1. दीर्घायुत्वाय (मं.2) आंयूषि तारिषत् (मं.6),
2. रक्षोघ्नी/भूतघ्नी	2. रक्षांसि सहामहे (मं.4),
3. वातघ्नी/उन्मादघ्नी	3. जम्भात् पातु (मं.2) अभिशोचनात् पातु (मं.2)
4. मंगल्या, भद्रा, स्मृतिवर्धिनी	4. अरिष्यन्तः (मं.2) दक्षमणाः। सहस्रवीर्य (मं.2),
5. विजया	5. अरातिदूषिः (मं.6),
6. अतिसारघ्नी	6. विशरात् (वि-सारात्) पातु (मं.2)
7. शोफघ्नी, ज्वरघ्नी,	7. विश्वभेषजः (मं.3), कफहनी, ग्रंथिहनी

पं. दामोदर सातवलेकर ने भी जङ्गिड को औषधि मानते हुए शब्दों में

---

1. अथर्ववेद, 2.4.2
2. वही, 19.34.5
3. वही, 19.34.9
4. वही, 19.34.4
5. वही, 19.34.9
6. कपिलदेव द्विवेदी, *अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन,* पृ. 363
7. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, प्रथम भाग, पृ. 32 पर

जादू-टोने का खण्डन करते हुए लिखा है- इस 2.4 सूक्त में जो 'जङ्गिडमणि' का वर्णन है वह ताबीज या धागा डोरा या जादू की चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्व के तृतीय सूक्त में पर्वत और पृथ्वी के ऊपर होने तथा समुद्र के तल में उत्पन्न होने वाली औषधि वनस्पतियों का वर्णन असंदिग्धरीति आया है, इस औषधि वनस्पतियों की अनुवृत्ति इस सूक्त में है। ये दोनों सूक्त साथ-साथ हैं और दोनों का रोग निवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है। इसीलिये यह औषधि का मणि है यह बात स्पष्ट है।...............आजकल **जो ताबीज, कवच, धागा डोरा जादू का पदार्थ है** वैसा जंङ्गिमणि नहीं है। इसमें औषधियों का सम्बन्ध विशेषरीति से शरीर के साथ होता है। यद्यपि शरीर के अन्दर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीर के ऊपर के स्पर्श से लाभ पहुँचता है।.............. जङ्गिडमणि (Disinfectant) स्पर्शजन्य दोष को हटाने वाला होने के कारण यदि वह शरीर पर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होने में शंका ही नहीं हो सकती। इस सूक्त में 'दूषण, दूषिः' इन शब्दों का प्रयोग विलक्षण अर्थ में हुआ है। जैसे-

1. विष्कन्ध दूषण-विष्कन्ध को बिगाड़ने वाला
2. कृत्यादूषि-कृत्या को दोष लगाने वाला
3. अरातिदूषि-अराति को दोष लगाने वाला

उपर्युक्त शब्द प्रयोग के द्वारा शत्रु में 'दोष उत्पन्न करना' यहाँ सूचित किया है। कई कहते हैं कि शत्रु को मारो, काटो या शत्रु का नाश करो। वेद में शत्रु का नाश करने का उपदेश कई बार किया है। परन्तु यहाँ दूसरी बात का उपदेश शत्रु को दूर करने के विषय में किया है। शत्रु में दोष उत्पन्न करना, शत्रु में हीनता उत्पन्न करना, शत्रु की कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना। जिस समय शत्रु का शीघ्र नाश नहीं होता है उस समय अनेक उपायों से शत्रु के अन्दर दोषों को बढ़ाने से शत्रु का बल घटता जाता है और अपना बल बढ़ता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगों के विषय में सत्य है उतना ही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओं के विषय में भी सत्य है, शत्रु में दोष उत्पन्न करने से थोड़े से प्रयत्न से शत्रु का पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है।

पं. सातवलेकर के अनुसार इस मणि को धारण करने से जैसे शरीर के रोगादि शत्रुओं की शक्ति में दोष उत्पन्न होते हैं उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढ़ता जाता है, वैसी ही राष्ट्र रूपी शरीर के क्षेत्र में भी इस मणि से राजनीति के शत्रुदमन विषयक एक बड़े सिद्धान्त का ज्ञान हो सकता है। हमारे मतानुसार इस दृष्टि से सूक्तोक्त जङ्गिड के गुणों के आधार पर जङ्गिडमणि का अर्थ योग्य सेनापति भी हो सकता है।

(2) **शङ्खमणि** – अथर्व. 4.10 सूक्त में शङ्खमणि का उल्लेख है। सायणाचार्य ने इस सूक्त के अपने भाष्य की उत्थानिका में कौशिक सूत्र 7.6, 7.9 और नक्षत्र कल्प 17 और 19 के अनुसार लिखा है कि–उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक की दीर्घायु के लिए शङ्ख को इस सूक्त के मन्त्रों से बाँध दे तथा यह भी लिखा है कि बाढ़ आ जाने पर जल में डूब जाने आदि का भय उपस्थित होने पर भी रक्षा के लिए शङ्ख को मणि रूप में इस सूक्त के मन्त्रों का पाठ करके बाँध लेने पर वह भय दूर हो जाता है।[1]

आचार्य सायण द्वारा की गई इस सूक्त के मन्त्रों की इस प्रकार की शङ्ख की जादू–टोने भरी मणिपरक व्याख्या भी उनकी जङ्गिडमणि आदि की व्याख्याओं की भाँति नितान्त असंगत है। यदि शङ्ख के बाँधने से और इन मन्त्रों का पाठ करने से आयु लम्बी हो जाती हो तब तो सौ साल तक और उससे अधिक जीने का आसान तरीका हाथ लग जाता है। हर कोई ऐसा कर लिया करे और वह कभी भी सौ साल से पहले न मरे। इसी प्रकार बाढ़ के भय से बचने का भी यह बड़ा सरल उपाय है। भारत के सब लोग विशेषकर हिन्दू लोग छोटे–छोटे शङ्खों की ऐसी मणियां बाँधकर रखा करें जिससे देश में कभी बाढ़ आयेगी ही नहीं। यह सब कोरी गप्पे हैं, जिन्हें वेद पर थोपकर वेद जैसे महान् ग्रन्थ को बिल्कुल हास्यास्पद और तुच्छ बनाकर रख दिया है। वस्तुत: तो इस सूक्त में शङ्ख का एक गुणकारी औषधि के रूप में वर्णन किया गया है और रोगों की चिकित्सा में बहुत उपयोगी होने के कारण उसे मणि कह दिया गया है। अथर्व. 4.10.3 में शङ्ख को **विश्वभेषज** अर्थात् अनेक प्रकार के रोगों का निवारण करने वाला बतलाया गया है। अथर्व. 4.10.1 में इसे '**कृशन:**' अर्थात् रोगों को दुर्बल करके दूर करने वाला बताया गया है। दूसरे मन्त्र में इसे शरीर को खा जाने वाला (अत्रिण:) रोग तथा तज्जनक कृमिरूप राक्षसों को मारने वाला कहा है। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि शङ्ख के सेवन से अनेक प्रकार के रोग (अमीबा) मस्तक या बुद्धि की दुर्बलता, पागलपन आदि को (अमतिम्) तथा पीड़ा देकर रुलाने वाले अन्य रोगों को दूर करने वाला बताया गया है। चौथे मन्त्र में इसके सेवन को आयुवर्धक कहा है। छठे मन्त्र में शङ्ख में हिरण्य (स्वर्ण) तथा सोम जैसे रोगनिवारण गुण बताये गये हैं। सूक्त के अन्तिम सातवें मन्त्र में कहा गया

1. 'वाताज्जात:' इति सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य माणवकस्य शङ्खमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। तदुक्तं कौशिकेन। 'उपनयनम्' (कौ.सू. 7.6) प्रकम्य 'वाताज्जात इति वृक्षम्' इति (कौ. 7.9) 'वारुणीं जलभये' (न.क. 17) इति विहितायां वारुण्याख्यायां महाशान्तौ शङ्खमणिबाधनेऽपि एतत् सूक्तम्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। 'वाताज्जात इति शङ्खं वारुण्याम्' इति (न.क. 19)

है कि शङ्ख के सेवन से 100 वर्ष की दीर्घायु प्राप्त होती है, बल प्राप्त होता है। चिकित्सक लोग शङ्ख को बारीक घिसकर या उसकी भस्म बनाकर उसे औषधि के रूप में प्रयोग में लाते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में शङ्ख भस्म को अनेक रोगों में बड़ा उपयोगी बताया गया है।

शङ्ख यह एक समुद्री कोशस्थ जीव का अस्थिवत् रक्षक है। यह शङ्ख के जीव के साथ बढ़ता है। यह हड्डी के तुल्य होता है। यह बात अथर्ववेद के मन्त्र 4.10.7 में **अस्थि** शब्द के द्वारा स्पष्ट होती है। पानी में शङ्ख को घोलकर बच्चों को पिलाने से उनकी बहुत-सी बीमारियां दूर हो जाती हैं। यह विधि महाराष्ट्र में अधिक प्रचलित है। चिकित्सकीय दृष्टि से बच्चों के गले में शङ्ख की मणि बाँधने की प्रथा आज भी है। छोटे शङ्ख को सोने में जड़कर गले में आभूषण के तुल्य छोटे बच्चों को पहनाने की भी प्रथा है। इससे लाभ देखा गया है। ऐसा डॉ. कपिल देव द्विवेदी ने लिखा है।[1]

पं. विश्वनाथ विद्यालंकार ने अपने अथर्ववेद भाष्य में शङ्खमणि से शङ्खभस्म का अभिप्राय लिया है। वे अथर्व. 4.10.1 में पठित **हिरण्यजाः शङ्खः** का अभिप्राय हिरण्य भस्ममिश्रित शङ्खभस्म लिया है। वे लिखते हैं कि अथर्व. 4.10.7 में जो अस्थिमय शङ्ख को आयु-वृद्धि आदि का कारण बताया गया है वह संभव नहीं है। यह तभी संभव है जब इसका अर्थ शङ्खभस्म करें। यह अर्थ समग्र सूक्त के अभिप्राय के अनुकूल भी है।

(3) **शतवारमणि** - अथर्व. 19.36 सूक्त में शतवारमणि का वर्णन है। इस सूक्त के अपने भाष्य की उत्थानिका में आचार्य सायण ने लिखा है कि जिस व्यक्ति की सन्तानें मर जाती हों और इस प्रकार उसके कुल का क्षय हो रहा हो, वह इस सूक्त के मन्त्रों को पढ़कर शतवारमणि को बाँध ले तो उसका यह संकट दूर हो जाता है।[2] यहाँ भी अथर्ववेद में शतवारमणि का वर्णन किसी जादू-टोने भरी मणि के रूप में नहीं किया गया है, प्रत्युत एक बल वीर्य और पुंस्त्व शक्तिवर्धक औषधि के रूप में किया गया है। यदि जादू-टोने वाली बात होती तो कोई भी व्यक्ति हर औषधि की मणि बनाकर बाँध लिया करता और इस सूक्त के मन्त्रों का पाठ करा लिया करता तो उसकी कभी कोई सन्तान नहीं मरती और न कभी यही होता कि उसके घर में सन्तान ही न हो। यद्यपि सूक्त में इसके लिए औषधि शब्द का प्रयोग नहीं

---

1. कपिलदेव द्विवेदी, *अथर्ववेद का सांस्कृतिक* अध्ययन, पृ. 368
2. 'शतवारो अनीनशत्' इति........... सूक्तम्। तेन 'संततिं कुलक्षये प्रयुञ्जीत' इति (न.क. 17) विहितायां संतत्याख्यायां महाशान्तौ शतवारं मणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूत्रितं हि। 'शतवारो अनीनशद् इति शतवारं संतत्याम्' इति (न.क. 19)।

हुआ है तो भी इसके गुणों का जो वर्णन वहां मिलता है, उससे यह औषधि ही सिद्ध होती है। सायणाचार्य ने भी सूक्त के मन्त्रों के अपने भाष्य में शतवार को एक औषधि ही बताया है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि शतवार अपने सामर्थ्य से अनेक यक्ष्म अर्थात् रोगों को तथा रोगों के जनक कृमियों (रक्षांसि) को नष्ट कर देता है। कठिनता से झुकाये, दबाये अर्थात् नष्ट किये जा सकने वाले रोगों को भी यह औषधि नष्ट कर देती है। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि यह औषधि छोटे रोगों को भी दूर करने की शक्ति रखती है। बड़े रोगों के विनाश का भी सामर्थ्य रखती है तथा पीड़ा से रोगी को रोता चिल्लाता रखने वाले रोगों को भी नष्ट कर देती है। चौथे मन्त्र में कहा गया है कि 'शतवार' में इतनी पुंस्त्व पैदा करने की शक्ति है जो व्यक्ति एक भी सन्तान उत्पन्न न कर सकता हो, वह भी सैकड़ों अर्थात् अनेक सन्तानें पैदा कर सकता है। यह वीर्य के अनेक प्रकार के दोषों और रोगों को दूर करने की शक्ति रखता है। आचार्य सायण ने 'शतवार' औषधि के नाम की व्याख्या दो प्रकार से की है-एक तो उन्होंने यह व्याख्या की है कि इसके मूल में सैकड़ों अर्थात् अनेक मूल, मोटी जड़ों या कन्द से निकलते हैं, तथा दूसरा अर्थ उन्होंने यह किया है कि इसमें अनेक रोगों को रोकने की शक्ति है। पुंस्त्व या वीर्यवर्धक औषधि में यह शक्ति तो होती ही है। पाँचवें मन्त्र में 'शतवार' को हिरण्यशृंग भी कहा है। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के अनुसार जिसका एक भाव तो यह प्रतीत होता है कि इसके कन्द की नोकें स्वर्ण की भाँति चमकदार या उज्ज्वल होती हैं। एक ध्वनि इससे यह भी निकलती है कि इसमें हिरण्य अर्थात् सोने जैसे औषधि के गुण हैं और यह रोगों को सींगों की तरह फोड़ डालती है अर्थात् नष्ट कर देती है। इसकी यह ध्वनि भी निकलती है कि स्वर्ण के साथ इसका प्रयोग किया जाये तो यह और भी गुणकारी सिद्ध होगी। ये सब बातें परीक्षा करके देखने की हैं। दूसरे मन्त्र में इसको दो सींगों वाला भी बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इसके कन्द में दो सींग या नोकें भी निकलती होंगी। पाँचवें मन्त्र में इस औषधि को ऋषभ भी कहा गया है। ऋषभ का अर्थ साँड की भाँति बड़ा शक्तिशाली होता है। इसका भाव यह है कि रोगों के निवारण में यह औषधि बड़ी शक्तिशाली है। इस शब्द का अर्थ साँड़ की भाँति वीर्यसेचन में समर्थ अर्थात् सन्तानें उत्पन्न करने में समर्थ भी होता है। जो औषधि पुंस्त्व और वीर्यवर्धक है, उसमें यह गुण तो होता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में वाजीकरण या वीर्यवर्धक औषधि के रूप में औषध का नाम **ऋषभ** कहा भी गया है।

(4) **वैयाघ्रमणि** - इस मणि का उल्लेख अथर्व. 8.7.14 में हुआ है। कौशिक और वैतान सूत्रों के अनुसार आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है कि-यक्ष्मा आदि सकल व्याधियों की चिकित्सा के लिये इस सूक्त से

दशवृक्षों के टुकड़ों को लाख और सुवर्ण से मढ़ मणि बनाकर गुगल, जामुन, कबीला, स्रक्, बद्ध, सिरस, वरण, बेल, जङ्गिड, कुटक, गृह्य, गलागल, बेत, शिम्बल, सिपुन, तिनश, अरणिका, अश्मयोक्त, तुन्यु और पूतदारु-ये शान्त वृक्ष कहलाते हैं। इनमें से किन्हीं भी दश वृक्षों के टुकड़ों से निर्मित मणि शाकलमणि कहलाती है तथा सौत्रामणि याग में इस सूक्त के द्वारा औषधियों से खिंचती हुई सुरा का अनुमन्त्रण करें।

अथर्व. 8.7 सूक्त में 28 मन्त्र हैं। जिनमें पाप का फल यक्ष्मा को बताया गया है। इस सूक्त के 14वें मन्त्र में वैयाघ्रमणि का वर्णन आया है। मन्त्र इस प्रकार है-

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यपहन्त्वधि दूरमस्मत्॥

अर्थात् वीरुधाम्-विरोहण स्वभाव वाली लता आदि में, वैयाघ्रः=वैयाघ्र वीरुध् मणिः=सर्वश्रेष्ठ रत्न है, त्रायमाणः=यह मणि पालन करता, अभिशस्तिपाः-तथा रोगजन्य हिंसा से रक्षा करता है। अमीवाः[1]-रोगों या रोगकीटाणुओं, तथा सर्वा रक्षांसि-सब राक्षसी कर्मों का, अपहन्तु-यह हनन करे अर्थात् हमसे दूर कर दे।[2]

'वैयाघ्र' का अर्थ है व्याघ्रवत् रोगों पर आक्रमणकारी-व्याघ्र इव वैयाघ्रः।[3] व्याघ्र का अभिप्राय है **कास्टर आयल का पौधा।** आप्टे ने स्वार्थ में अण् प्रत्यय मानकर वैयाघ्र पद सिद्ध किया है और 'व्याघ्र' There Variety of the caster-oil को माना है।[4]

उपर्युक्त सूक्त में व्याघ्र औषधि को मणि कहा है, यह वीरुधों में श्रेष्ठ है। कास्टर आयल पौधे को मणि इसलिये कहते हैं कि बद्ध कोष्ठता (कब्ज) के लिए यह सर्वोत्तम तैल है। रोगों का कारण कब्ज है। कब्ज के ठीक रहने पर रोग प्रायः नहीं होते। व्याघ्रपदघटित अन्य औषधियां भी हैं, यथा व्याघ्रपुच्छ, व्याघ्रपात्।[5]

उपर्युक्त वर्णन में सायणकृत व्याख्या कहाँ टिकती है? यह स्वयं ही देखा जा सकता है। समस्त रोग पेट की खराबी से पनपते हैं। वेद में 'अमीवा' रोग के कीटाणुओं को कहते हैं। अतः इनको सायण के द्वारा बताये मणिबन्धन प्रकार से कैसे दूर किया जा सकता है? इस 8.7 सूक्त में त्राणसंबन्धी, पुरुषजीवनी, बलास-

---

1. अम् रोगे (चुरादिः) इति प्रो. विश्वनाथ वेदभाष्ये।
2. प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, अथर्वभाष्यम्, रामलाल कपूर ट्रस्ट, द्वितीय संस्करण।
3. वही, पृ. 269
4. व्याघ्र एव वैयाघ्रः (स्वार्थेऽण्) आप्टे कोश।
5. चद्ररांज भण्डारी, वनौषधि चद्रोदय।

रोगनाशक, हृदय कल्याणकारी और रोगनाशक पीपल, दर्भ आदि औषधियों का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में वैयाघ्र औषधि का भी अत्यन्त उपयोगी मणिरूप में वर्णन आया है। मनुष्यों को उचित है कि इसका यथोचित प्रयोग करें। **यह ध्यातव्य है कि इस सूक्त में केवल 'वैयाघ्र' के साथ ही मणि पद का प्रयोग हुआ है, अन्य औषधियों के साथ नहीं। यह इसकी महता को इङ्गित करता है।**

(4) **अश्वत्थमणि** - सायण आचार्य के अनुसार 'अश्वत्थमणि' का वर्णन अथर्व. 3.6 में आता है। यद्यपि मन्त्रों में कहीं भी 'मणि शब्द' का उल्लेख नहीं हुआ है। भाष्यकारों ने इस सूक्त का देवता '**वानस्पत्याश्वत्थ**' लिखा है। आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है - अभिचारकर्म में इस सूक्त द्वारा खैर में उगे पीपल की मणि का सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे तथा इङ्गिडालंकृत पाशों को इससे संपातित और अभिमन्त्रित कर शत्रु के मर्म में बींधे। तथा इसी सूक्त से पूर्ववत् पाशों को अभिमन्त्रित कर '**तेऽधराञ्चः**' इस सातवीं ऋचा से नदी के प्रवाह में फेंक देवे। इसी प्रकार पहिले के समान अभिमन्त्रित पाशों को आठवीं ऋचा से प्रेरित करे। तथा अभिचरित और अभिचर्यमाण के लिये विहित महाशान्ति के मणिबन्धन में भी यह सूक्त पढ़ा जाता है।

उपर्युक्त सूक्त में आठ मन्त्र हैं। जिनमें '**पुमान् पुंसः**[1]', दार्ष्टान्त (उपमेय) का वर्णन '**अश्वत्थः खदिरात्**' के दृष्टान्त रूप में हुआ है। दूसरे मन्त्र में उपमान-अश्वत्थ और उपमेय-पुमान् दोनों का वर्णन है। अश्वत्थ रोग शत्रुओं का विनाशक हैं। इस अर्थ में इन्द्र है विद्युत्, मित्र है सूर्य, वरुण है मेघ। इन तीन की सहायता द्वारा अश्वत्थ बढ़ता है, अतः वह इनके साथ स्नेह करता है। उपमेय-पुमान् राष्ट्रिय शत्रुओं का विनाश करता है। इस अर्थ में इन्द्र है सम्राट्, मित्र है मित्र राजा, तथा वरुण है माण्डलिक राजा।[2] अन्तिम मन्त्र में '**वृक्षस्यशाखयाश्वत्थस्य नुदामहे**' द्वारा यह ज्ञात होता है कि 'अश्वत्थ' प्रकरण द्वारा वृक्ष ही है। '**नुदामहे**' द्वारा ज्ञात होता है कि शत्रुओं को धकेलने वाले बहुत हैं। ये प्रजाएँ हैं। जब समग्र प्रजा मिलकर 'राष्ट्रिय शत्रु-स्वकीय राजा' को राष्ट्र से धकेलने के लिए तत्पर हो जाए तो वह वृक्षों की शाखाओं के प्रहारों द्वारा ही शत्रु-राजा को अपने राष्ट्र से धकेल सकती है, किसी उग्र शस्त्रास्त्र की आवश्यकता नहीं होती, इसे मन्त्र में दर्शाया है।

पं. सातवलेकर ने भी इस सूक्त की 'अश्वत्थ की अन्योक्ति' नाम से व्याख्या की है। वे लिखते हैं यह सूक्त अश्वत्थ की अन्योक्ति है। **एक का प्रत्यक्ष उल्लेख**

---

1. अभिवर्धनशील पिता से अभिवर्धनशील पुत्र (प्रो. विश्वनाथ)
2. प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, *अथर्वभाष्यम्,* द्वितीय संस्करण में निम्न मन्त्र का भाष्य-तानश्वत्थ निःशृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः। इद्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च। अथर्व. 3.6.2

करके दूसरे के ही विषय में कहने का नाम अन्योक्ति है। इसी प्रकार यहाँ अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन करते हुए वीर पुरुष का वर्णन किया है।[1]

(ख) राजनीतिपरक मणिसूक्त

(1) **पर्णमणि** - राजनीतिपरक मणिसूक्तों में पहले पर्णमणि (अथर्व. 3.5) सूक्त को लेते हैं। इस सूक्त की उत्थानिका में अपने भाष्य में विनियोगकारों और अनुक्रमणिकाकारों का अनुसरण करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है-जो व्यक्ति तेज, बल, आयु और धन आदि को प्राप्त करना चाहता है, वह पर्ण अर्थात् ढाक के वृक्ष की बनी हुई मणि को त्रयोदशी के दिन दही और शहद में भिगोकर तीन दिन रखे और चौथे दिन निकालकर उस मणि को इस सूक्त के मन्त्रों का पाठ करके बाँध ले।[2] आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के अनुसार आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में यह भी लिखा है[3] कि यदि किसी का राज्य किसी शत्रु ने छीन लिया हो तो वह काम्पील नामक वृक्ष की टहनियों से, जो वृक्ष की पहले कटी हुई शाखाओं के स्थान पर पुनः उगी हों, आग जलाकर उस पर ऐसे चावलों को पकाकर जो कि खेत कटने के बाद पुराने धान की जड़ों से पुनः निकले हुए पौधों से प्राप्त किय गये हों, इस सूक्त के मन्त्रों को बोलकर खाये तो उसे पुनः उसका राज्य प्राप्त हो जायेगा।[4] यों सायणाचार्य ने धनादि की प्राप्ति के लिये इस वाक्य में जो 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है, उससे भी पर्णमणि की महिमा से छिन गये राज्य की प्राप्ति की बात समाविष्ट ही है, क्योंकि सूक्त के मन्त्रों में भी पर्ण से क्षत्र और राष्ट्र के अभीवर्ग द्वारा राज्य-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। आचार्य सायण द्वारा कृत 'पर्णमणि' शब्द का अर्थ इस प्रकार की जादू भरी ढाक की बनी विशेष प्रकार की मणि करना बुद्धिसंगत नहीं है। यदि सायण का अर्थ ठीक मान लिया जाये तो कोई भी राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता खोकर पराधीन नहीं हो सकता। उस राष्ट्र की जनता वासित मणि को बाँध लिया करे और दही शहद को खा लिया करे, तथा उक्त वासित की गई लकड़ियों पर वासित चावलों को भी पकाकर खा लिया करे। स्वतन्त्रता न छिनने और पराधीन न होने का यह बड़ा आसान नुस्खा है। भारत के बाहर के लोगों को

---

1. अथर्ववेद का सुबोधभाष्य, स्वाध्याय मण्डल पारडी, प्रथम भाग, पृ. 30
2. 'आयमगन् पर्णमणिः' इत्यनेन सूक्तेन तेजोबलायुर्धनादिपुष्टये पलाशवृक्षमणिं वासितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। तथा च सूत्रम्। आयमगन् (3.5) अयं प्रतिसरः (8.5) अयं मे वरुणः (10.3) अरातीयो (10.6) इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति। इति (कौ. 3. 2)। उक्तवासित शब्दार्थ।
3. मूल सायण भाष्य में नहीं है।
4. प्रियव्रत वेदवाचस्पति, *वेद और उसकी वैज्ञानिकता*, पृ. 360

तो वेद का ज्ञान नहीं है। उनकी बात जाने भी दें, तो भारतवर्ष के आर्यों (हिन्दुओं) को तो कभी पराधीन न होना चाहिए था। यहाँ तो सदा से वेद पढ़ा-पढ़ाया जाता रहा है। फिर भी, शत्रु को भगाने और स्वतन्त्र होने का इतना सरल नुस्खा प्राप्त होने पर भी भारत के लोग शताब्दियों तक पराधीन क्यों रहे? इसलिये सायण आदि का किया हुआ 'पर्णमणि' सूक्त का यह अर्थ सही और मानने योग्य नहीं है।

वेदोपाध्याय प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार ने 'पर्णमणि' शब्द से पालकसेनापति रत्न-सेनाध्यक्ष, जो कि राष्ट्र का पालक पुरुषरत्न है' यह अभिप्राय लिया है एवं तदनुसार ही पूरे सूक्त की संगति लगायी है। परन्तु आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' नामक अपने बृहद् ग्रन्थ के प्रथम भाग के 'पर्णमणि' नामक नौवें अध्याय में इस सूक्त की बहुत विस्तृत व्याख्या की है। जिसमें आचार्यश्री ने पर्णमणि का अर्थ चुनाव के लिए मतदाताओं द्वारा अभ्यर्थी का नाम लेकर डाला जाने वाला पत्र अर्थात् मतपत्र किया है। मत या वोट माँगने वाले के लिए मतपत्र से बढ़कर और कोई कीमती वस्तु नहीं हो सकती। उसके लिए तो वह मणिरूप है। इसीलिए सूक्त में मतपत्र को 'पर्णमणि' कहा गया है। 'पर्ण' और 'मणि' इन दो शब्दों के योग से पर्णमणि शब्द बना है। पर्ण का अर्थ होता है कागज और मणि का अर्थ जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान् वस्तु होता है। अतः 'पर्णमणि' का अर्थ होगा 'एक बहुमूल्य पत्र'। प्रजातन्त्र में इस मतपत्र द्वारा ही राजा का चुनाव होता है। अतः यह बलशाली है। राष्ट्र के ही वर्ग द्वारा इसका उपयोग होता है। आचार्य प्रियव्रत द्वारा निर्दिष्ट इस अर्थ की संगति अथर्ववेद के इस उपर्युक्त सूक्त पर सटीक घटती है, क्योंकि इसके दूसरे, तीसरे, छठे और सातवें मन्त्रों में स्पष्ट रूप से एक अभ्यर्थी द्वारा राष्ट्र-प्राप्ति की अर्थात् उसका राष्ट्रपति चुने जाने की प्रार्थना काव्यमय शैली में पर्ण से की जाती है।[1] ये मन्त्र स्पष्ट रूप से सूक्त के मुख्य आशय को व्यक्त कर रहे हैं।

(2) **प्रतिसरमणि** - अथर्ववेद 8.5 में प्रतिसरमणि का उल्लेख मिलता है। इस सूक्त की उत्थानिका में आचार्य सायण ने तथाकथित विनियोगों के आधार पर लिखा है कि-**अयं प्रतिसरः**' (अथर्व. 8.5) आदि दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं, इस अर्थसूक्त का अभिलषित प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रयोग किया जाता है। इस अर्थसूक्त से दही और शहद में तीन रात बसाई हुई तिलकमणि को संपातित

---

1. मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः।।2।। यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे।।3।। ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्।।6।। ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्।।7।।

और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इन सूक्तों का कृत्याप्रतिहरणगण में भी पाठ है। अत एव इसका शान्तिजल के अभिमन्त्रण आदि में विनियोग होता है। रौद्री नामक महाशान्ति के तिलकबन्धन में भी इस सूक्त का विनियोग किया जाता है। पिष्ट रात्री विधान के प्रतिसर बन्धन में भी इस सूक्त का पाठ है जिसमें कि रक्षासूत्र को बाँधा जाता है।

आचार्य सायण ने उक्त सूक्त के प्रथम मन्त्र के भाष्य में इस मणि को तिलकवृक्ष से निर्मित माना है–'**अयं तिलकवृक्षनिर्मितोमणिः**', दयानन्दीय विचारधारा में उक्त सूक्त में सम्राट्, राष्ट्रपति तथा पुरुषमणि रूप सेनाध्यक्ष की प्रायः चर्चा हुई है। इसके पहले दो मन्त्रों में मणि के जो शूरवीर, सपत्नघ्न, सुमङ्गल, सहस्वान्, वाणी आदि विशेषण पठित हैं, वे काष्ठ निर्मित मणि के सम्बन्ध में नहीं। क्योंकि यदि विशेषणों के अनुरूप विशेष्य व्यक्ति या वस्तु न हो, तो विशेषण गप्प ही होंगे। तीसरे मन्त्र में कहा है कि सेनाध्यक्ष रूपी पुरुष रत्न द्वारा सम्राट् (इन्द्र) ने शत्रुदल (वृत्र) का हनन किया। क्या यह मन्त्रोक्त वर्णन काष्ठनिर्मित मणि द्वारा सम्भव है? चतुर्थ मन्त्र में इस मणि को '**स्राक्त्यः**' कहा है। '**स्राक्त्यमणि**' वस्तुतः है स्रक् (स्रज्) अर्थात् माला द्वारा सत्कार योग्य विजयी सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न। इसके सम्बन्ध में ही प्रस्तुत सूक्तोक्त वर्णन उपपन्न हो सकते हैं। 'स्राक्त्य' का वर्णन 'स्रक्त्य' द्वारा अथर्व. 2.11.2 में भी हुआ है। स्वार्थ में अण् प्रत्यय के योग से स्रक्त्य से स्राक्त्य पद निष्पन्न हुआ है। आचार्य सायण ने यहाँ–(अथर्व. 2.11.2) भी इसे तिलक वृक्ष द्वारा निर्मित कहा है। यथा–'**स्रक्तिस्तिलकवृक्षःतत्र भव स्रक्त्यः**'। अथर्व. 2.11.4 में 'स्रक्त्य' को 'सूरि' कहा है। सूरिः का अर्थ सायण ने 'अभिदा' अर्थात् ज्ञानी किया है। क्या काष्ठनिर्मित या फलरूप वस्तु ज्ञानी हो सकती है? अथर्व. 8.5 के मन्त्र सात और आठ में भी क्रमशः '**स्राक्त्यं मणिं**', '**स्राक्त्येन मणिना**' पदों का प्रयोग हुआ है। जिनका अर्थ 'सत्कार योग्य पुरुषरत्न (सेनाध्यक्ष)' और 'सत्कार योग्य पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष द्वारा' होता है। मन्त्र ग्यारह में इस मणि को '**उत्तम ओषधीनाम्**' और '**व्याघ्रः श्वपदाम् इव**' कह है। ओषधियों के दो प्रयोजन होते हैं, रोगी के दोषों अर्थात् रोगों को दूर करना और उसके शरीर का सवंर्धन करना। राष्ट्र के भी दो प्रयोजन हैं, राष्ट्र शरीर के रोगों को दूर करना और राष्ट्र शरीर का संवर्धन करना। राष्ट्र शरीर के रोग हैं चोरी, डकैती, लूटमार, व्यभिचार, विप्लव तथा उपद्रव आदि। राजा सेनाध्यक्ष की सहायता से इन रोगों को दूर करता है। अतः उसे '**उत्तम ओषधीनाम्**' कहा है। और अवशिष्ट मन्त्रियों की सहायता से व्यापार, उद्योग, कृषि आदि द्वारा राष्ट्र का संवर्धन करता है। इनसे अतिरिक्त एक राजनैतिक रोग है–'पर राष्ट्र द्वारा आक्रमण' एतदर्थ राजा सेनाध्यक्ष को व्याघ्र से उपमित करता है (**व्याघ्रः-श्वपदामिव**)। क्या ये वर्णन आचार्य सायण द्वारा इङ्गित काष्ठनिर्मित मणि में उपपन्न

हो सकते हैं? यह विचारणीय बात है। मन्त्र बीस में इसका एक विशेषण 'देवमणि' भी आया है। इसका अर्थ होता है दिव्यगुणी मणि अर्थात् पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष। जो कि चेतन पुरुष में ही सार्थक बैठता है, अचेतन काष्ठ में नहीं। मन्त्र 20 में **'अस्मिनिन्द्रो निदधातु नृम्णम्'** और मन्त्र 21 में **'इन्द्रो बध्नातु ते मणिम्'** कहा गया है। जिनके अर्थ होते हैं–हे राजा (इन्द्र) इस मणिरूप सेनाध्यक्ष में बल और धन (नृम्णम्) निधिरूप में स्थापित करें।' हे राष्ट्र के राजन्! सम्राट् (इन्द्र) तेरी रक्षा के लिए तेरे साथ पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष को सुदृढ़ करें।' क्या ये दोनों अर्थ विनियोगों पर आधारित सायण कृत 'काष्ठनिर्मित मणि' में घट सकते हैं?

(3) **अभीवर्तमणि** – अथर्ववेद 1.29 में इस मणि का उल्लेख मिलता है। इस सूक्त की उत्थानिका में आचार्य सायण ने लिखा है कि इसका माहेन्द्री महाशान्ति में और इस सूक्त की प्रथम चार ऋचाओं का शत्रुमर्दित राष्ट्र की वृद्धि के लिए विनियोग होता है। लोहा, शीशा, चाँदी और तांबा मढ़ी हुई स्वर्ण की नाभि को त्रयोदशी से तीन दिन दही और मधु से पूर्ण पात्र में रखे फिर उसे धागे में पिरोकर कुशा पर रखकर उसके लिए यज्ञ करे और बाद में उसे अभीवर्त और उत्तमा से बाँधे।'

आचार्य सायण ने 'अभीवर्तमणि' का अर्थ–**'चक्रनेमिनिर्मितमणि'** किया है। सायण भाष्य के अनुसार इसके धारण करने से इन्द्र विजयी हुआ और उसकी वृद्धि हुई इसके धारण करने से राष्ट्रिय शक्ति की वृद्धि होती है। यह शत्रुओं को नष्ट करती है। आक्रमणकारियों को तिरस्कृत करती है और राष्ट्र की अभिवृद्धि करती है। सूर्य और चन्द्रमा अभीवर्तमणि को पुष्ट करते हैं। इसको धारण करने वाला सभी प्राणियों का सहयोग प्राप्त करता है। और इसका तेज सूर्य की तरह बढ़ता है और वह सभी शत्रुओं को नष्ट करने में समर्थ होता है।[1]

स्वामी दयानन्द की विचारधारा में 'अभीवर्त' का अर्थ होता है **परराष्ट्र या शत्रु के सम्मुख (प्रवृत्त) होने वाला मणिरूप पुरुषरत्न सेनाधिपति। अभिवर्तते अनेन इति अभीवर्त सेनाधिपतिः।**[2] उक्त सूक्त के मन्त्र दो में 'अभिवृत्य' पद आया है जिसका अर्थ होता है 'घेरकर'। अभीवर्त सेनाधिपति वह होता है जो विद्रोही प्रजाजनों को, राज्यकर न देने वालों को और दुष्ट कर्म (युद्ध) करने की इच्छा करने वालों के अभिवृत्य–घेरकर निजपादाधीन कर लेता हो। मन्त्र 3 और 5 में अभीवर्त के लिए **'सपत्नक्षयणः'** **'शत्रुहा'** और **'सपत्नहा'** विशेषण आये हैं जो कि ऐसे पुरुषरत्न मणिरूप सेनाधिपति पर ही घट सकते हैं **'चक्रनेमिनिर्मित मणि'** पर नहीं।

---

1. अथर्ववेद 1.29 पर सायण भाष्य।
2. वही, 1.29.1 पर प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार कृत भाष्य, पृ. 56-58

सपत्नों (शत्रुओं) का क्षय करने वाले ऐसे सेनाधिपति के साथ ही राष्ट्रोन्नति के लिए राजा दृढ़बन्धन की अभिलाषा करता है–**'राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे।'**

पं. दामोदर सातवलेकर ने अभीवर्त का अर्थ 'शत्रु' को घेरने वाला किया है। वे इस अभीवर्तमणि को राजदण्ड, छत्र, चामर आदि की तरह एक राजचिह्न मानते हैं, जिसको धारण करने के समय उक्त सूक्त को बोला जाता है। वे लिखते हैं–छत्र, चामर, राजदण्ड आदि चिह्नों के धारण करने से जनता पर कुछ विशेष प्रभाव पड़ता है। और उस प्रभाव के कारण राजा के इर्द गिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिह्न में कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजचिह्न धारण करने वाले साधारण सिपाही में भी अन्य सामान्य जनों की अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होने का अनुभव हर एक करता है। इसी प्रकार उक्त चिह्नों के कारण अमूर्त राजशासन का एक विशेष प्रभाव जनता पर पड़ता है। जिस कारण राजा शक्तियों का केन्द्र बनता है। जिस समय अपने चिह्नों से और सम्पूर्ण ठाठ से राजा जाता है उस समय उसका बड़ा भारी प्रभाव सामान्य जनता पर पड़ता है, इसी कारण राजा में शक्ति इकट्ठा होती है। इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र (अभीवर्तो०) में यह मणि ही शत्रुनाश करने वाला, प्रभाव बढ़ाने वाला, राष्ट्रहित साधने वाला है' इत्यादि कहा है। उसका भाव उक्त प्रकार ही समझना योग्य है। ***सिपाही की शक्ति उसके चिह्नों से ही उसमें आती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्रत्युत एक विशेष भावना से ही उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण राजचिह्नों की शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है।***[1]

(4) **अस्तृतमणि** - इस मणि का उल्लेख अथर्व. 19.46 में हुआ है। मारुद्गणी महाशान्ति में इसके प्रयोग को इङ्गित करते हुए आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है–**'प्रजापतिष्ट्वा'** इस सूक्त से बलकाम की मारुद्गणी शान्ति को करे। इस महाशान्ति में अस्तृतानामक मणि को अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस 19.46 सूक्त में अस्तृतानामक मणि की स्तुति की गई है। प्रथम मन्त्र के भाष्य में सायण ने लिखा है–**अत्र सूक्ते अस्तृतताख्यो मणिः स्तूयते। 'अस्तृतस्त्वाभिरक्षतु' इति चरमपादे सर्वत्र युष्मच्छब्देन अस्तृतमणिधारकः पुरुषोऽ-भिधीयते। प्रजापतिः प्रजानां पालकः सर्व जगद्विधाता देवः प्रथमम् सृष्ट्यादौ मणिधारकेभ्यः पूर्वं वा अस्तृतम् परैरबाधितम् एतत्संज्ञकं त्वा त्वाम् बध्नात् धारयामास। त्रिवृन्मणिरेव वा अतिशयितप्रभावत्वाद् अस्तृतसंज्ञया उच्यते। 'अस्तृत-स्त्वाभिरक्षतु'** यह टेक प्रत्येक मन्त्र के अन्त में आती है। आचार्य सायण के अनुसार इसमें युष्मद् 'त्वा' शब्द से अभिप्राय अस्तृतमणिधारक पुरुष से है। इसे त्रिवृन्मणि भी कहते हैं। अत्यधिक प्रभावशाली होने से इसका एक नाम अस्तृतमणि भी है।

---

1. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, प्रथम भाग, स्वाध्याय मण्डल पारडी, पृ. 81

सायण लिखते हैं कि हे मणे! प्रजा के पालक सर्व जगद्विधाता देव ने सृष्टि के प्रारम्भ में तुझे दूसरों से अबाधित मणि को दूसरों को दबाने की शक्ति पाने के लिए धारण किया था। हे मणिधारक पुरुष! ऐसी मणि को मैं पुरोहित आयु, वर्च, ओज और बल प्राप्त करने के लिए तेरे बाँधता हूँ, यह अस्तृतमणि तेरी रक्षा करे।[1]

दयानन्दीय विचारधारा के अनुसार यहाँ तीन का वर्णन प्रतीत होता है। प्रजापति का, अस्तृत का और बाँधने वाले का। प्रजापति–माण्डलिक राजा प्रतीत होता है। प्रजापति के राज्य में दो शासन संस्थाएँ होती हैं–सभा और समिति। सभा तो लोकसभा है, और समिति है–राज्यसभा अर्थात् मुख्य–मुख्य प्रभावशाली व्यक्तियों की सभा। यथा–**सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येन संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु** (अथर्व. 7.12.1)। समिति राज्यसभा है। यथा–**राजानः समिताविव** (यजु. 12.80)। अस्तृतम् का अर्थ होता है–'अपराजित अर्थात् युद्ध में जिसकी हिंसा या जिसका पराजय नहीं हुआ[2] ऐसा महाशासक सम्राट्। यथा–**शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन** (अथर्व. 1.20.4) में '**अस्तृतः**' को '**महान् शासः**' अर्थात् महाशासक कहा है। तथा यह कहा है कि इसका सखा न तो मारा जाता है, न कभी पराजित होता है। यह अमित्रों का पराभव करता है। इसलिये ऐसे महाराजा के साथ राजनीतिक सन्धि में, माण्डलिक राजाओं का बन्धना आवश्यक हो जाता है। '**अस्तृतस्त्वाभिरक्षतु**' द्वारा इसी बात की ओर बार–बार संकेत किया गया है। वर्तमान समय में भी आत्म–रक्षार्थ राज्यों में पारस्परिक सन्धियां होती हैं। राजनैतिक सन्धि कराने वाला तीसरा व्यक्ति है, जो कि माण्डलिक या महाशासक का राजदूत है।[3]

(5) **वरणमणि** - वरणमणि का उल्लेख अथर्व. 10.3 में हुआ है। इसकी उत्थानिका में आचार्य सायण ने लिखा है कि–इस सूक्त में वरण नामक मणि का प्रताप वीर्य और शत्रु क्षय की शक्ति तथा धारक के सब दुःखों के नाश का वर्णन है और अभया नामक महाशान्ति के वरण मणि बन्धन में भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। सायण के अनुसार शत्रुक्षय आदि को चाहने वाला इस सूक्त से दही और मधु में तीन रात बसाई हुई वरणमणि को संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

दयानन्दीय वैदिक विचारधारा में प्रस्तुत सूक्त में '**वरण**' का वर्णन हुआ है। इसके दो अर्थ सूक्त में सङ्गत होते हैं। (1) शत्रु निवारक सेनाध्यक्ष और (2)

1. रामस्वरूप शर्मा गौड, *अथर्ववेद संहिता*, सायण भाष्य सहित, (19.46.1)
2. अ–स्तृ (स्तृणाति वधकर्मा, निघं 2/19)–क्त।
3. प्रो. विश्वनाथविद्यालंकार, अथर्ववेद भाष्यम् 19.46.1, पृ. 318

रोगनिवारक वरणवनस्पति।[1] मन्त्रों में **अवारयन्त**[2], **अवीवरन्**[3], **वारयिष्यते**[4] द्वारा '**वरण**' का अर्थ निवारक' ही प्रतीत होता है। इस सूक्त में मणि' द्वारा सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न का निर्देश हुआ है।[5] **जातौ जातौयदुत्कृष्टं तद्रत्नमित्यभिधीयते**' द्वारा सेना में उत्कृष्ट सेनाध्यक्ष को मणि अर्थात् रत्न कहा है। मणि और रत्न समानार्थक है। 'वरण' औषध भी वनस्पतियों में श्रेष्ठ है, अतः मणि है, रत्न है। मन्त्र 17 में 'वरण' द्वारा सेनाध्यक्ष तथा वरण-औषध का युगपत् वर्णन हुआ है। शेष मन्त्रों में किन्हीं में मुख्यरूप में वरण औषध का, तथा किन्हीं में मुख्यरूप में सेनाध्यक्ष का वर्णन हुआ है। इस सूक्त के मन्त्र 9 से 25 तक में, प्रायः वरण द्वारा सेनाध्यक्ष का वर्णन संगत होता है।

(6) **फालमणि** - अथर्व. 10.6 में इस मणि का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञिक सम्प्रदायानुसार खादिर काष्ठ के फाल के विकाररूपी मणि को बाँधने का यहाँ वर्णन है। शत्रुनाश और सब कामनाओं की पूर्ति के लिए इस मणि को बाँधने हेतु प्रस्तुत सूक्त के विनियोग में आचार्य सायण ने लिखा है-**खदिरकाष्ठफालविकारं मणिं शत्रुनाशाय सर्वकामावाप्तये च बध्नाति।**' पाश्चात्य वैदिक विद्वान् भी इस मणि को Amulet अर्थात् जादू-टोना रूप मानते हैं।

उक्त सूक्त में 35 मन्त्र हैं। स्वामी दयानन्द की विचारधारा के अनुसार 'फालमणि' का अर्थ होता है फाल से उत्पन्न मणि[6]-कृष्यन्न, मठा तथा औषधि रस-यह पूर्ण अन्न है। कृष्यन्न मणि है, श्रेष्ठ रत्न रूप है। वन्यान्न की अपेक्षया कृष्यन्न शक्तिप्रदान में श्रेष्ठ है, अतः मणिरूप है। यह अन्न मनुष्यों की रक्षा करता है, अतः कवच है। अन्न के बिना मृत्यु हो जाती है। परन्तु कृष्यन्न तब पूर्ण अन्न होता है जबकि मठे और दुग्धरस तथा औषधिरसों का इसके साथ सहयोग हो, अन्यथा केवल कृष्यन्न अपूर्ण अन्न है। इन मिश्रित अन्नों के सेवन द्वारा वर्चस् प्राप्त होता है।[7]

मन्त्र 3 और 6 से पता चलता है कि फाल 'खदिर' काष्ठ का होता है जिसे कि तर्खान घड़ता है। सम्भवतः यह फाल खैर के काष्ठ से निर्मित किया गया है। खैर कारण है, और फाल कार्य। कार्य में कारण का उपचार हुआ है, यथा **अन्नं वै**

---

1. अथर्ववेद 10.3.8
2. वही, 10.3.3
3. वही, 10.3.5
4. वही, 10.3.4, 6, 8
5. वही, 10.3.1, 2, 3, 6
6. वही, 10.6.2 'अयं मणिः फालाज्जातः।'
7. वही, 10.6.2 पर प्रो. विश्वनाथ भाष्य।

प्राणिनां प्राणः' प्राण कार्य है और अन्न कारण है अतः प्राण को अन्न कहा है। इसी प्रकार फाल को खदिर कहा है।

मन्त्र में दो फाल से उत्पन्न कृष्यन्न को मणि कहा है फाल और कृष्यन्न में भी कारण और कार्यभाव है। अथवा साधन और साध्य भाव है। एक जाति के पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ पदार्थ मणि कहाता है। अन्नों में कृष्यन्न श्रेष्ठ है अतः कृष्यन्न मणि है, रत्न है। कृष्यन्न से गौओं को चारा मिलता है, और गोओं से दूध और दूध से घृत मिलता है, अतः कृष्यन्न को मन्त्र 6 में '**घृतश्चुत**' कहा है। कृष्यन्न के सेवन से शरीर और मन में बल और उग्रता पैदा होते हैं। बृहस्पति जब कृष्यन्न के परिणाम 'वीर्य' को निज शरीर में बाँधे रखता है, और विषयलम्पट होकर उसका विनाश नहीं करता तो वह ओज को प्राप्त करता है। (**ओजसे**) '**अबध्नात्**' द्वारा 'मणि' को बाँधना सूत्र या धागे द्वारा अभिप्रेत नहीं है जैसा कि आचार्य सायण ने लिखा है। अपितु इसे शरीर में स्थिर रखना ही अभिप्रेत है। जैसे कि **देशबन्धः चित्तस्य धारणा**' (यो.द. 3.1) में चित्त के ध्येय में बाँधने का वर्णन हुआ हैं। ध्येय के साथ चित्त को सूत्र द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। 'ध्येय में चित्त को स्थिर करना' यह अभिप्राय है।

सूक्तोक्त विभिन्न मन्त्रों से ज्ञात होता है कि इस मणि को सूर्य, चन्द्रमा, अन्तर्देश, प्रदिशः, ऋतु, मास, माससमूह, संवत्सर, आपः आदि जड़ पदार्थ भी धारण करते हैं (बांधते हैं)। अतः मणिबन्धन का जो अर्थ याज्ञिक सम्प्रदायानुसार किया गया है, वह समुचित प्रतीत नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि यह मणि खदिर या खदिर फाल से उत्पन्न स्थूलमणि नहीं, जिसे कि सूर्य आदि भी धारण करते हैं। सूर्य आदि सम्बन्धी मणियां क्या है? इसे प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार आदि के भाष्यों में देखा जा सकता है। परमेश्वर भी सृष्ट्युत्पादन के लिये मणि को बाँधता है, अतः **यह मणि सृष्टि के उत्पादन में परमेश्वरीय कामनारूप है, न कि कोई प्राकृतिक मणि** (मं. 9.17)। इस सूक्त के मन्त्र 21 से 28 और 31 से 32 में आया है कि-

(1) सबको धारण पोषण करने वाला परमेश्वर भी मणि को भूत-भौतिक विविध पदार्थों की रचना के लिए बाँधता हैं क्या परमेश्वर का कोई शरीर है जिसके अवयव पर स्थूल मणि बाँधी जा सके।

(2) यह मणि असुरों का असुरकर्मों का क्षय करने वाली (असुरक्षिति) है।

(3) परमेश्वररूपी मणि, जब सिर पर आरूढ़ हो जाती है, तब मनुष्य सिर से पैरों तक श्रेष्ठ बन जाता है।

(7) **दर्भमणि** - अथर्ववेद काण्ड 19 सूक्त 28 से 30 और 32, 33 कुल पाँच सूक्तों के 39 मन्त्रों में दर्भमणि का वर्णन हुआ है। याज्ञिक सम्प्रदायानुसार काण्ड

19 के 28, 30 सूक्तों का ऐन्द्री नामक महाशान्ति के दर्भमणिबन्धन और 32 से 33 सूक्तों का याम्या महाशान्ति के दर्भमणि बन्धन में विनियोग होता है। आचार्य सायण ने इस विषय में लिखा है–**'इमं बध्नामि ते मणिम्' इति सूक्तत्रयम्......ऐनद्व्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियुक्तम्। 'शतकाण्डो दुश्च्यवनः' इत्यादिकं षष्ठं सूक्तम्। 'तस्य याम्यां यमभये (न.क. 17) इति विहितायां याम्याख्यायां महाशान्तौदर्भमणिबन्धनं कुर्यात्।'**

आचार्य सायण ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि यह कुशा (दर्भ) से निर्मित मणि है। आर्यभाषाभाष्यों के अनुसार दर्भ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– दृ विदारणे (दर्) भा दीप्तौ (भम्)। आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टा. 3/2/3)। जिसका अर्थ होता है 'शत्रुओं के विदारण द्वारा चमकने वाला। मणि–सेनापतियों में शिरोमणि रूप।' दृणाति विदारयतीति दर्भ (उष्ण. 3/151)–शत्रु के विदारण के कारण सेनापति को दर्भ कहा है। दर्भाङ्कुर का अग्रभाग कण्टकमय होता है, जो कि पैर का विदारण कर देता है। इस प्रकार **रूपक दृष्टि से भी सेनापति को दर्भ कहा जा सकता है। जैसे कि बहादुर को 'शेर' तथा निर्बुद्धि को गदहा कह दिया जाता है।** सूक्त 29 के मं. 01 से 04 तक में साम उपायों का वर्णन हुआ है, और मन्त्र 5 से 9 तक में दण्ड–उपाय कहे गए हैं। शत्रु को अपने अनुकूल करने के चार उपाय हैं–साम, दाम, दण्ड और भेद। साम का अभिप्राय है–शान्ति, समझौते, परस्पर वार्तालाप तथा सन्धि आदि शान्त उपायों का वर्तना।

अथर्व. 19/28–30 तीन सूक्तों में दयानन्दीय विचारधारा में 'शत्रु विदारक सेनापति' को 'दर्भमणि' नाम से कहा गया है। इसके लिए कुछ निम्नलिखित विशेषण हैं जो उक्त सूक्तों में आये हैं–

(1) **सपत्नदम्भनम्** – आन्तरिक शत्रुओं को दबाने वाला।

(2) **द्विषतस्तपनं हृदः** – द्वेषी राजा के हृदय को तपाने वाला।

(3) **शत्रूणां तापयन् मनः** – शत्रुओं के मनों को तपाने वाला।

(4) **घर्म इव** – ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के सदृश संतप्त करने वाला।

(5) **दुर्हार्दान्** – दुष्ट हार्दिक भावनाओं को हनन करने वाला।

(6) **तनूपानम्** – शरीर का रक्षक।

उपर्युक्त कतिपय विशेषण आचार्य सायण निर्दिष्ट 'कुशा (दर्भ) से निर्मित मणि' पर नहीं घट सकते। सूक्त 28 के प्रथम मन्त्र में प्रजाजनों का प्रतिनिधि कहता है कि मैं उपर्युक्त विशेषणों से युक्त सेनापति (दर्भमणि) को तेरे साथ दृढ़ बद्ध करता हूँ (**बध्नामि**)।

भिद्धि=भिन्न-भिन्न (विभेद) कर, **छिद्धि**=छिन्न-भिन्न कर, **वृश्च**=काट डाल, **कृन्त**=कतर डाल, **पिश**=टुकड़े-टुकड़े कर डाल, **विध्य**=टुकड़े-टुकड़े कर डाल, **निक्ष**=वेंध डाल, **तृद्धि**=क्षीण कर, **रुद्धि**=अनादर कर, **मृण**=घेरा डाल, **मन्थ**=प्राणदण्ड दे, **पिड्ढि**=प्राणदण्ड दे, **ओष**=मथ डाल, **दह**=झुलसा दे, दग्धकर, **जहि**=हनन कर आदि इन लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन की क्रियाओं का प्रयोग शत्रुविदारक सेनापति के साथ हुआ है, न कि सायण निर्दिष्ट तथाकथित दर्भनिर्मित मणि के साथ। वैसे भी इन क्रियाओं की सार्थकता चेतन पुरुष के साथ ही घट सकती है। '**त्वं राष्ट्राणि रक्षसि** (19.30.3) तू राष्ट्रों की रक्षा करता है- यह मन्त्रांश 'दर्भ निर्मित मणि' के साथ कैसे उपपन्न होगा? यह तो शत्रुओं का विदारण करने वाले शिरोमणि रूप सेनापति पर ही घट सकता है।

अथर्व. 19/32-33 सूक्तों में परमात्मा को अविद्याग्रन्थि विदारक-रागद्वेषविदारक और भयविदारक कहा गया है। यह इन दो सूक्तों में 'दर्भमणि' का आध्यात्मिक अर्थ है। **दर्भ=विदारयति अविद्या ग्रन्थिम्।** औषधि (19.32.1)-**ओषद्धयति दोषं धयतीति वा** (नि. 9.3.27) परमेश्वर अविद्यादि रोगों का औषध रूप है, उग्र औषधरूप है। आचार्य सायण ने 19.32 समग्र सूक्त में दर्भ द्वारा कुशा घास का वर्णन किया है। यहाँ 'दर्भ' कुशा घास नहीं है। क्योंकि 19.32.9 में जो विशेषण दर्भ के बताये गये हैं वे कुशा घास पर नहीं घटते। वे तो अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर (दर्भ) पर उपपन्न हो सकते हैं। पूरा मन्त्र इस प्रकार है-

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च।
यं विभं ननु पाप्मा विवेद सनोऽयं दर्भो वरुणो दिवा कः॥

उपर्युक्त मन्त्र में (1) **पृथिवीमदृंहत्**-जिसने पृथिवी को दृढ़ किया (2) **अन्तरिक्षं दिवं च अस्तभ्नात्**-अन्तरिक्ष और द्युलोक को जिसने थामा। (3) **दिवा कः**-ज्ञानप्रकाश करने वाला ये विशेषण कुशा पर घटित नहीं होते, अपितु परमात्मा पर घटते हैं। वेदों में अन्यत्र भी ऐसी बातें परमात्मा के बारे में ही आयी हैं, जैसे **येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा** (यजु. 32.6)।

हमने ऊपर की पंक्तियों में लगभग सभी मणिसूक्तों की समीक्षा प्रस्तुत की है। इनमें किसी जादू-टोने (Amulet) की शक्ति रखने वाली मणिविशेष का वर्णन नहीं है। इनमें जहाँ गुणकारी ओषधियों का वर्णन है, जिन्हें रोगनिवारण में बहुत उपयोगी होने के कारण मूल्यवान् मणि कह दिया गया है, वहीं राष्ट्र के रोग भूख, प्यास, हिंसा आदि के निवारण में मणिरूप सेनापति ओषधि आदि का भी वर्णन है। इस प्रकार गम्भीर अध्ययन, मनन, चिन्तन, अनुसन्धान करने पर सभी मणिसूक्तों की कहीं आयुर्वेदपरक और कहीं राजनीतिपरक सुन्दर व्याख्या हो सकती है। जहाँ कुछ

मणिसूक्तों की उपर्युक्त उभयविध व्याख्या संभव है, वहीं 'दर्भमणि' की आध्यात्मिक (अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर) व्याख्या भी होती है।

3.5 कृत्या और अभिचार

कृत्या शब्द 'कृञ् हिंसायाम्' इस धातु से बना हुआ है जिसका अर्थ ऐसी हिंसक क्रिया से है जो शत्रु वा शत्रु सेना के घात के लिए प्रयुक्त की जाती है। **अभिचार** से तात्पर्य उस प्रयोग से है जो शत्रु के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे रोगग्रस्त कर मार डालने तक में समर्थ हो। 'शब्दकल्पद्रुम' में अभिचार का ऐसा ही अर्थ '**अभिचारः आभिमुख्येन शत्रुवधार्थं चारः कार्यकरणम्**' इन शब्दों द्वारा दिया गया है। अर्थात् शत्रुओं के वध के लिए कार्य करना, वह चाहे आक्रमण के रूप में हो अथवा अन्य प्रकार से। कृत्या और अभिचार का सम्बन्ध युद्ध विद्या के साथ है, इसलिए उनका उचित ज्ञान क्षत्रियों को होना चाहिए। कौटिलीय अर्थशास्त्र में पुरोहितों के विषय में लिखा है कि-

पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः।

अर्थात् पुरोहित, राजा और राजपुरुषों को कृत्या और अभिचार के विषय में सब आवश्यक बातें समझा देवे। अथर्व. 8.5.5 के आधार पर ही कौटिल्य आचार्य ने यह बात लिखी प्रतीत होती हैं। जहाँ कहा है कि-

'ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥

अर्थात् पुरोहित विद्वान् शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त हिंसक क्रियाओं का प्रतीकार करें। बहुत-सी औषधियों और मणियों का उपभोग इन कृत्याओं के निवारणार्थ बताया गया है।

उदाहरणार्थ अथर्व. 19.34.4 में जङ्गिडमणि वा सोम के विषय में कहा है-

'कृत्यादूषण एवायमथे अरातिदूषणः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषन्॥
कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

अर्थात् यह सोम, कृत्या वा हिंसक क्रिया का नाश करने वाला और आयुष्य-वर्धक है। अथर्ववेद 8.7.10 में भी कृत्याओं के नाश के लिए औषधियों का वर्णन है-

उन्मुञ्चन्तीर्वि वरुणा उग्रा या विषदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्या दूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः॥

यहाँ विषनाशक औषधियों को **कृत्या नाशनी** कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि शत्रु सेना का घात करने के लिए अग्नि ज्वालाओं में किन्हीं विषैले वानस्पत्य और खनिज पदार्थों के प्रयोग का नाम कृत्या है।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति।।[1]

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि जो हिंसा रूप प्रयोग को गुप्त स्थान में तैयार करके उस हिंसाकारी प्रयोग से अन्य का घात करना चाहता है उस जलायी हुई कृत्या में बहुत प्रकार के मनशिल, पोटाश आदि पत्थर फट् ऐसा शब्द बार-बार या अत्यन्त करते हैं।

अथर्व. 8.5.9 इत्यादि मन्त्र के अनुसार ये कृत्याएं दो प्रकार की बतलाई गई हैं एक आङ्गिरसी-स्फोटक पदार्थों वाली जो गिर कर मकानों को तोड़-फोड़ देने वाली हैं और दूसरी विषमय वस्तुओं से बनी मनुष्यों का घात करने वाली आसुरी।[2]

अथर्व. 4.18.5 इस मन्त्र में कहा गया है कि क्षेत्रों में, गौओं में या पुरुषों में जो कृत्या (हिंसक क्रिया) प्रयुक्त की गयी हो इस औषधि के द्वारा उसका मैं प्रतीकार करता हूँ।[3]

निम्न मन्त्रों में किसी जादू-टोने व टोटके की बात नहीं किन्तु उत्तम जङ्गिड आदि औषधियों के द्वारा विष के प्रभाव को नष्ट करने का विधान हैं-

यत्ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
संदेश्यात्सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः।।[4]

देवैनसात् पित्र्यान्नाम ग्रहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात्।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम्।।[5]

इन मन्त्रों में **ओषधीः, वीरुधः** इन शब्दों के प्रयोग द्वारा कृत्याओं वा घातक क्रियाओं के सारे प्रभाव को औषधियों के प्रयोग और (ब्रह्मणा) ज्ञान द्वारा दूर करने का उपदेश है। यह ब्रह्म शब्द अथर्ववेद में अन्य वेदों की तरह बहुत जगह आया है। इसका अर्थ परमेश्वर और वेद अथवा ज्ञान होता है, किन्तु आश्चर्य है कि ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य अनुवादकों ने भ्रान्तिवश इसका अर्थ सर्वत्र Charm वा

1. अथर्ववेद 4.18.3
2. याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः। कृत्याः स्वयं कृता या उ चान्येभिराभृताः।।
3. अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्। यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु।।
4. अथर्ववेद 10.1.11
5. वही, 10.1.22

जादू कर दिया है।[1] निरपराधों पर यह घातक क्रिया का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध और अति भयंकर परिणाम वाला होता है। अतः भूलकर भी इसका प्रयोग न करना चाहिए। यह बात अथर्व. 10.1.29 में–

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव॥

इत्यादि शब्दों द्वारा चेतावनी के रूप में कही गयी है जो शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें गौवों, घोड़ों तथा अन्य पशुओं तथा निरपराध व्यक्तियों पर घातक क्रिया के प्रयोग का अतिभयंकर परिणाम बताते हुए उस कृत्या का प्रतिकार करना आवश्यक कहा गया है। ***इस प्रकार इनका प्रयोग रक्षात्मक वा Defensive है स्वयं आक्रमणात्मक वा Offensive नहीं, यह इन मन्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है। ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र, वैद्युतास्त्र, सौम्यास्त्र आदि का प्रयोग इसी रक्षात्मक भावना से कृत्या निवारणार्थ बताया गया है। यह भी युद्ध तथा शस्त्रास्त्र विद्या से सम्बन्ध रखने वाला विषय है। इसे जादू-टोने वा टोटके Charms, Amulets, Sorcery आदि नाम देना व ऐसी वस्तु समझना बड़ी भूल है।***

अभिचार का शब्दार्थ किसी के शरीर पर आक्रमण कर वा शरीर में प्रविष्ट हो उसे खा जाने वाला विष प्रयोग है यह शब्दकल्पद्रुमादि के आधार पर पहले बताया जा चुका है। ऐसी हानिकारक क्रिया से बचने के दो ही मुख्य उपाय हैं। जिन्हें वेद में उन्मोचन और प्रमोचन इन नामों से कहा गया है। जैसा अथर्ववेद 5.30.2 में लिखा है–

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥

अपने सम्बन्धी या दूसरे लोगों ने जो अभिचार क्रिया का प्रयोग किया हो उनके प्रतीकारार्थ मैं वैद्य उन्मोचन और प्रमोचन क्रियाओं का उपदेश करता हूँ। उन्मोचन से तात्पर्य विषमय पदार्थ के वमन और विरेचन (कै या दस्त) द्वारा बाहर निकाल देने और उस विष के प्रभाव को घृत, मधु आदि के प्रयोग द्वारा अन्दर ही अन्दर शान्त कर देने से है। सुश्रुत कल्पस्थान अ. प्रथम श्लोक 75-76 में इसी उपाय का वर्णन है–

महासुगन्धमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक्।
पानालेपननस्येषु, विदधीताञ्जनेषु च।

---

1. पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, *वेदों का यथार्थस्वरूप*, जनज्ञान प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 340

विरेचनानि तीक्ष्णानि, कुर्यात्प्रच्छर्दनानि च॥

अति सुगन्धित शीतल इन औषधियों का पान करवाने, लेप करने और नस्य (नसवार) तथा अंजन के साथ ग्रहण कराने का वैद्य उपाय करे और विरेचन (दस्त) तथा प्रच्छर्दन (वमन वा कै) द्वारा विषमय पदार्थों को बाहर निकलवा दे।

ये दोनों क्रियाएँ वा उनके प्रतीकार वैद्यक-विद्या से सम्बन्ध रखते हैं। उनका कल्पित तान्त्रिक जादू-टोनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार के निष्पक्ष विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि अथर्ववेद में औषधियों, संकल्प, मार्जन, आदेश, मणिबन्धन, कृत्या, अभिचार के प्रतीकारादि का जो वर्णन है वह सर्वथा वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक है। उसे जादू-टोनों वा Charms, Amulets, Sorcery का वेद बतलाना अविवेकपूर्ण कार्य है। जोकि सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार वेद चार हैं। अथर्ववेद भी ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के समान परमात्मप्रदत्त ज्ञान है। यह अर्वाचीन नहीं अपितु प्राचीन है। इसमें कोई भी स्थल असंगत नहीं है। अथर्ववेद में कहीं भी जादू-टोना नहीं है। प्रत्युत जादू-टोना और मंत्र-तंत्र मानने वाले कौशिक ने जो अपने जमाने की अन्धपरम्परा के रूप में विनियोग के रूप में विनियोग किये हैं एवं तदनुसार सायणाचार्य ने जो अर्थ किये हैं वे बड़े अशुद्ध, ऊलजलूल और निराधार तथा बेढंगे हैं। इन आरोपों से अथर्ववेद के स्वत:प्रामाण्य का नाश होता है एवं अथर्ववेद पर अनावश्यक प्रश्नचिह्न लगता है, जिससे जन सामान्य में इसको लेकर भ्रान्त धारणा फैलती है।

✦✦✦

व्यक्तित्त्व-विकास में चारित्रिक गुणों का योगदान : शतपथ ब्राह्मण के सन्दर्भ में

-डॉ. अपर्णा धीर

असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
इन्स्टिट्यूट ऑफ ऐड्वान्स्ट साइन्सीस,
डार्टमोथ, यू.एस.ए.

प्रत्येक व्यक्ति में अपने कुछ विशेष गुण होते हैं, जो उसे दूसरे व्यक्ति से भिन्न बनाते हैं, यही उसकी पहचान कहलाती है। इन्हीं विशेष गुणों के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्त्व बनता है। इसी व्यक्तित्त्व को आङ्गल भाषा में 'personality' कहते हैं। व्यक्ति के व्यवहार, आचार-विचार, गतिविधियों से उसके विशेष गुणों का पता चलता है, जिससे उस व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को जाना जाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए, सामाजिक गतिविधियों से व्यक्ति के व्यक्तित्त्व पर प्रभाव पड़ता है। आधुनिक काल में व्यक्तित्त्व-अध्ययन मनोविज्ञान के अन्तर्गत आता है, जिसमें व्यक्ति के बाह्य वातावरण से प्रभावित गुणों और आन्तरिक स्वभाव दोनों पर विचार किया जाता है।

आज हम देखते हैं कि निरन्तर बदलते हुए सामाजिक परिवेश में रहते हुए व्यक्ति कभी प्रसन्नचित तो कभी उदासीन दिखाई पड़ता है। जिससे तनाव की स्थिति बनी रहती है और व्यक्ति को मानसिक कलेश का सामना करना पड़ता है। इस दृष्टि से व्यक्तित्त्व-अध्ययन एवं विकास के विषय में प्रतिक्षण जागरूक रहना चाहिए क्योंकि व्यक्तित्त्व-विकास व्यक्ति को जीवन के प्रति सकारात्मक रहने की प्रेरणा देता है, जीवन जीने की कला सिखाता है और व्यक्ति का आत्मविश्वास प्रबल करता है।

वैदिक ग्रन्थ समाज एवं उसके विभिन्न अङ्गों के वर्णन से ओत-प्रोत हैं। परस्पर सौहार्द स्थापित करने की प्रेरणा वैदिक ऋषियों ने सदैव दी है। ध्यातव्य है कि परस्पर सौहार्द स्थापित करना व्यक्ति के व्यक्तित्त्व पर निर्भर करता है और व्यक्तित्त्व की नींव व्यक्ति का चरित्र है। इसी दृष्टिकोण से आचार्य याज्ञवल्क्य ने

'आत्मा के ही देखने, सुनने, तथा विचारने से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है[1]' इस प्रकार कहकर 'अपने को पहचानो' इस विचार की प्रेरणा शतपथ ब्राह्मण में दी है, जो बाद में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषदीय वाक्य के रूप में विश्व विख्यात हुआ। 'अपने को पहचानो' अथवा 'Know Your Self' इस प्रकार यहाँ चरित्र निर्माण की इच्छा को जागृत किया गया है। चरित्र प्रधानतः दो तत्त्वों पर निर्भर करता है-वंशानुक्रम और परिवेश। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में कुछ गुण उसके परिवार से आते हैं, कुछ सामाजिक गतिविधियों से, कुछ सहकर्मियों से। इन सब गुणों का आन्तरिक चिन्तन करने पर व्यक्ति के स्वभाव में वे गुण नज़र आने लगते हैं और धीरें-धीरें वही उसके चरित्र के रूप में परिगणित हो जाते हैं। अतः जब हम व्यक्तित्त्व-विकास की बात करते हैं तो एक प्रकार से हम चरित्र विकसित करने की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। चरित्र विकसित करने के लिए हमारे शास्त्रों में चारित्रिक गुणों को सुदृढ़ करने पर विशेषकर बल दिया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयी-संहिता की माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण को मूल आधार के रूप में ग्रहण किया गया है। यहाँ यत्र-तत्र याज्ञिक-क्रियाओं के सफल अनुष्ठान के माध्यम से व्यक्ति को करणीय-अकरणीय कर्त्तव्यों का बोध कराकर चारित्रिक गुणों को सुदृढ़ करने की उदात्त विचारधारा निम्नतः प्रस्तुत की गई है-

सत्य

संसार के दो भाग कहे गए हैं-सत्य और अनृत।[2] प्रस्तुत ब्राह्मण के कई सन्दर्भों में सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'सत्य ही बोले', ऐसी शिक्षा दी गई है।[3] सत्य को आदित्य[4] एवं सोना[5] कहा गया है क्योंकि सत्य अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए सदा एक-सा रहता है। वस्तुतः सत्य चक्षु है, किसी भी विवाद की स्थिति में आँखों द्वारा देखा गया ही यथार्थ एवं विश्वसनीय कहलाता है।[6] सत्य

---

1. आत्मा वाऽअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो...। श. ब्रा. 14.5.4.5 (सं.) स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, तीन भाग, 2003]
2. श. ब्रा. 3.3.2.2
3. सत्यमेव वदेत्।। श. ब्रा. 1.1.1.4, 12.8.2.4, 14.1.1.33
4. तद्यत्तत्सत्यम्। असौ स आदित्यः।। श. ब्रा. 6.7.1.2
5. सत्यं हैतद्यद्रुक्मः।। श. ब्रा. 6.7.1.1
6. सत्यं वै चक्षुः।। श. ब्रा. 1.3.1.27, चक्षुर्वै सत्यम्।। श. ब्रा. 14.8.15.5

बोलने वाले का तेज[1] और यश[2] सदा बढ़ता है, सर्वत्र उसकी जीत[3] होती है, उसकी कामनाएँ[4] पूर्ण होती हैं तथा उसकी वाणी पवित्र[5] होती है। सत्य-असत्य भाषण के फल का प्रतिपादन शतपथ में आख्यान[6] द्वारा बताया गया है-सत्य बोलने वाले प्रायः पहले निन्दित होते हैं परन्तु अन्त में अच्छा फल पाते हैं अर्थात् उनकी कीर्ति और सम्मान चारों दिशाओं में फैलता है। इसके विपरीत वह मनुष्य अपवित्र कहलाता है, जो झूठ बोलता है।[6] यह इसी दृष्टि से वर्णित है कि चाहे कुछ न बोले परन्तु असत्य भाषण कदापि नहीं करना चाहिए-

आहिताग्निानृतं वदितव्यं न वदन्जातु नानृतं वदेत्॥

श. ब्रा. 2.2.2.20

श्रद्धा

श्रद्धा से अभिप्राय निष्ठा, विश्वास, आस्था आदि से युक्त चित्तवृति है। अग्निहोत्र प्रकरण में श्रद्धा सम्बन्धी आख्यान का वर्णन है। कथित है कि जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र विषयक प्रश्न किया। याज्ञवल्क्य ने दूध को अग्निहोत्र बताया। जनक वैदेह ने दूध के अभाव में किससे आहुति दी जाएगी इस प्रकार पूछा। याज्ञवल्क्य ने चावल और जौ की आहुति देने के लिए कहा। इसी प्रकार इनके भी अभाव में औषधियों, वनस्पतियों तथा जल से आहुति देनी चाहिए। यदि जल आदि भी न हों, ऐसी स्थिति में सत्य की श्रद्धा में आहुति देनी चाहिए।[7] सत्य से तात्पर्य यथार्थ विचार या कथन से है तथा श्रद्धा से अभिप्राय विश्वास या आस्था है। अतः ***सत्य की श्रद्धा में आहुति देने का अर्थ है यथार्थ विचार को विश्वास का रूप देना।***[8] सामान्य शब्दों में कहे तो सत्य तभी यथार्थ सिद्ध होता है, जब वह श्रद्धा-युक्त हो। इसी कारण शतपथ में श्रद्धा को हृदय में प्रतिष्ठित बताया गया है[9] क्योंकि बुद्धि भले ही छल करने लगे परन्तु हृदय (मन) यथार्थ-अयथार्थ को भली-भाँति जानता है।

---

1. श. ब्रा. 2.2.2.19
2. वही 6.4.4.10
3. वही 3.4.2.8
4. वही 7.4.1.5
5. वही 2.4.1.1
6. वही 9.5.1.12-17
7. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।। श. ब्रा. 1.1.1.1
8. ...तैव सत्यं श्रद्धायामिति वेत्थाग्निहोत्रं...।। श. ब्रा. 11.3.1.4
9. मीरा रानी रावत, *शतपथ ब्राह्मण में आचार*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2009, पृ. 111
10. ...हृदयेन हि श्रद्धत्ते हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता...।। श. ब्रा. 14.6.9.22

अतिथि-सत्कार

शतपथ ब्राह्मण में अतिथि को देवता स्वरूप माना गया है इसीलिए कहा है कि अतिथि के आने से पूर्व ही गृहवासियों को अपने गृह की साफ-सफाई का ध्यान रखना चाहिए[1] तथा आए हुए अतिथि का स्वागत सभी को मिलकर करना चाहिए[2]। आज प्रायः देखा जाता है कि अतिथि के आने पर घर के सभी लोग एक-साथ एकत्रित होने के बजाय अपने-अपने प्रकोष्ठों में रहना ज़्यादा उचित मानते हैं, केवल अतिथि से सम्बद्ध व्यक्ति ही उसके सत्कार, जलपान आदि में लगा होता है। इस प्रकार के अनुचित व्यवहार को रोकने के लिए शतपथ में चेतावनी दी गई है कि उचित सत्कार आदि न किये जाने पर अतिथि क्रोधित हो जाते हैं।[3] निश्चित ही यह स्थिति परस्पर कलह को जन्म देती है। अतः मनुष्य अथवा सभी गृहवासियों को आलस्य-रहित एवं अहंभाव को त्याग कर अतिथि-सत्कार को अपना कर्त्तव्य जानना चाहिए।

अभिवादन

समाज में पास्परिक प्रेम बनाये रखने के लिए अभिवादन भी नैतिक तत्त्वों के अन्तर्गत आता है। शतपथ ब्राह्मणकालीन समाज में अभिवादन (नमस्कार) करने की प्रथा केवल अग्रजों अथवा गुरुजनों तक ही सीमित न होकर अपितु संसार के समस्त लोकों, प्राणियों, सर्पों, वनस्पतियों आदि के प्रति भी प्रचलित थी।[4] इस भावना से अवश्य ही मानव-जाति में सभी जीव-जन्तु, पर्यावरण इत्यादि के प्रति संवेदनशीलता पनपती है, क्योंकि यह स्वभाविक है कि जिसके प्रति अभिवादन प्रकट किया जाता है, उसका हनन व तिरस्कार नहीं किया जाता।

विश्व-कल्याण

शतपथ ब्राह्मण में व्यक्तिगत कल्याण के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए प्रार्थनाएँ की गई है। यथा-शतपथ के प्रथम काण्ड में समस्त संसार के मानवों, दुपायों एवं चौपायों के लिए स्वस्ति-कामना है।[5] इसी प्रकार दर्शपौर्णमास-निरूपण में

---

1. श. ब्रा. 2.3.1.8
2. यत्र वाऽअर्हन्नागछति सर्वगृह्य इव वै तत्र चेष्टन्ति तथा हापचितो भवति।।
   श. ब्रा. 3.4.1.6
3. यत्र वाऽअर्हन्तमागतं नापचायन्ति क्रुध्यति वै स तत्र तथा हापचितो भवति।।
   श. ब्रा. 3.4.1.3
4. श. ब्रा. 7.4.1.28-29
5. वही, 1.9.1.27-28

समस्त विश्व में शान्ति हो, विश्व का कल्याण हो एवं विश्व की रक्षा हो इस उद्देश्य से परिधि बनाई जाती है।[1] चिति-वर्णन के प्रसंग में भी यजमान समस्त लोकों को चारों ओर से शान्त एवं शत्रुरहित अथवा विघ्नरहित बनाने हेतु 'असपत्न' नामक ईंट को परिधि के चारों ओर रखता है।[2] समाज के सर्वहित के लिए इस प्रकार की उदात्त भावनाओं को अपनाना आज के आधुनिक युग के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अहिंसा

मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ित न करना ही अहिंसा कहलाता है। याज्ञिक क्रियाओं में पात्र की आवश्यक्ता होती है, शतपथ में विशेषतः पात्र-निर्माण के लिए स्वयं पतित वृक्ष-शाखा को ग्राह्य कहा है। ऐसी वृक्ष-शाखा दोषयुक्त नहीं होती।[3] पर्यावरण के प्रति यही अपनत्व का भाव अंहिसा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है। पुरुषमेध-यज्ञ निरूपण में अहिंसा के मार्ग को अपनाने पर बल देते हुए अहिंसा से समस्त कामनाओं की पूर्ति कही गई है।[4] न केवल चेतन प्राणियों के प्रति अपितु सम्पूर्ण लोकों के प्रति भी अहिंसा की भावनाएँ शतपथ ब्राह्मण में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है।[5]

दमन-दान-दया

दमन-दान-दया को शतपथ ब्राह्मण में क्रमशः 'द-द-द' तीन अक्षर वाली शिक्षा के नाम से सम्बोधित किया गया है। चौदहवें काण्ड के एक आख्यान[6] में प्रजापति के द्वारा देव, मनुष्य और असुरों को 'द-द-द' तीन अक्षर वाली शिक्षा का उपदेश दिया गया है। इस शिक्षा से देवों ने 'द' से दमन, मनुष्यों ने 'द' से दान तथा असुरों ने 'द' से दया का अर्थ ग्रहण किया। वास्तव में 'द-द-द' तीन अक्षर वाली शिक्षा आज के युग में भी प्रेरणादायक है। समाज में रहते हुए यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने क्रोध अथवा लालसा के प्रति आत्मसंयमी रहें, अर्जन करने की अपेक्षा दान पर बल दें एवं दुःखों के निवारण हेतु हृदय में करुणा रखें।

---

1. श. ब्रा. 1.3.4.2-4
2. वही 8.5.1.3-4
3. तस्मात्स्वयम्प्रशीर्णायै शाखायै मैत्रं पात्रं करोति।। श. ब्रा. 5.3.2.5
4. श. ब्रा. 13.6.2.12-13
5. वही, 6.4.4.4; 7.4.2.7
6. वही, 14.8.2.1-4

आत्मसंयम

शतपथ ब्राह्मण में एक आख्यान[1] द्वारा आत्मसंयमी होने का निर्देश दिया गया है। वर्णन है कि अवान्तर दीक्षा के उपरान्त जब देव दीक्षित हो गये तो देवों में जो कोई भी समिधा लाता या स्वाध्याय सम्बन्धी मन्त्र का पाठ पढ़ता, उसे ही असुर राक्षस वही रूप धारण करके मारते थे। तब देव आपस में कहने लगे-तुमने मुझे मारा, तुमने मेरा हनन किया। केवल अग्नि ने किसी से नहीं कहा और न ही अग्नि से किसी ने कहा। तत्पश्चात् देवों को इस तथ्य का परिज्ञान हो गया कि अग्नि का रूप धारण कर ही राक्षसों का विनाश सम्भव है। अग्नि देव की यही सहिष्णुता शान्तिपूर्वक ढंग से दु:खों के निर्वाण की ओर संकेत करती है। अत: आत्मसंयमी व्यवहारों द्वारा परस्पर कलह को सहजता से दूर करने पर शतपथ में बल दिया गया है।

श्रम

निरन्तर परिश्रम अर्थात् श्रम करता हुआ मनुष्य अपने अभीष्ट की सिद्धि सहजता से कर सकता है। श्रम द्वारा सफलता की प्राप्ति के विषय में शतपथ ब्राह्मण में कथित है कि देवों ने जो कुछ भी जीतना चाहा, वह सब श्रम के बल पर ही जीता।[2] शतपथ में श्रम को ही सम्पूर्ण सृष्टि-रचना का आधार माना है।[3] वस्तुत: समस्त कार्य-सिद्धि श्रम पर ही निर्भर करती है। मनुष्य जितना श्रम करता है, उतना ही कार्य सफल होता है।

स्वाध्याय

शतपथ में स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ कहा है। वर्णन है कि इस पृथिवी को कितना ही धन से भरकर, दक्षिणा में देकर केवल इस लोक को जीता जा सकता है परन्तु उतने से तिगुना अक्षय्यलोक उस विद्वान् को प्राप्त होता है, जो स्वाध्याय करता है।[4] गुरुमुख से अथवा किसी अन्य से एवं कहीं से भी सुने हुए ज्ञानमय-विचार, चिन्तन तथा निरन्तर ध्यान की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार से किया हुआ अध्ययन 'स्वाध्याय' कहलाता है। यहाँ अध्ययन से तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान से नहीं अपितु श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ग्राह्य ज्ञान से है। पुन: शतपथ में स्वाध्याय की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो स्वाध्याय एवं प्रवचन (पढ़ाना) करता है - वह

1. श. ब्रा. 3.4.3.6-8
2. श्रमेण ह स्म वै तद्देवा जयन्ति यदेषां जय्यमास।। श. ब्रा. 1.6.2.3
3. श. ब्रा. 6.1.1.1; 11.1.6.1
4. स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञ....स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्य:।। श. ब्रा. 11.5.6.3

मननशील स्वाधीन हो जाता है, प्रतिदिन धन कमाता है, सुख से सोता है, अपना परम चिकित्सक होता है। उसकी इन्द्रियाँ संयम में रहती है। वह एक रस रहता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ती है। उसका यश बढ़ता है और उसके लोग उन्नति करते हैं। प्रज्ञा के बढ़ने से वह ब्राह्मण-सम्बन्धी चार धर्मों को जानता है अर्थात् ब्रह्मकुल की नीति, अनुकूल आचरण, यश और स्वजन-वृद्धि।[1] वैदिक ऋषि ने स्वाध्याय के उपरोक्त सिद्धान्त द्वारा मनुष्य को प्रत्येक क्षण जागरूक रहने का संदेश दिया है।

मैत्री-भाव

मित्र देवता के माध्यम से शतपथ ब्राह्मण में मैत्री-भाव को स्पष्ट किया गया है। यहाँ कहा गया है कि मित्र सबका मित्र है, वह न किसी को हानि पहुँचाता है और न ही उसको कोई हानि पहुँचाता है।[2] अभिप्राय यह है कि मैत्री भाव रखने वाला मनुष्य कभी किसी के प्रति दुर्व्यवहार नहीं करता, जिससे उसको हानि पहुँचाने वाला कोई शत्रु नहीं होता।

स्वामिभक्ति

किसी भी परिस्थिति में अपने स्वामी का साथ उसी प्रकार नहीं छोड़ना चाहिए, जिस प्रकार यव एवं उदुम्बर वृक्षों ने विपरीत स्थिति में भी देवताओं का परित्याग नहीं किया।[3] इस प्रकार औषधियों में चेतनता की कल्पना द्वारा शतपथ ब्राह्मण में स्वामिभक्ति के भाव को व्यक्त किया गया है। राष्ट्र के स्वामी के प्रति स्वामिभक्ति की भावना के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए शतपथ में वर्णित है कि प्रजा में यह भाव होना चाहिए कि उनका स्वामी जो कहेगा या करेगा वह साधु ही होगा[4] किन्तु आज के युग में प्रायः राष्ट्र के नागरिक अपने स्वामी के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए दिखाई देते हैं।

उपरोक्त इन चारित्रिक गुणों के पालन में कई अनैतिक तत्त्व बाध्य हैं, जो निश्चित ही त्याज्य हैं अथवा अकरणीय हैं। शतपथ ब्राह्मण में ऐसे अनैतिक तत्त्वों का विवेचन भी मिलता है, जिन्हें निम्नतः ज्ञात किया जा सकता है-

क्रोध

यहाँ एकादश काण्ड में आख्यान द्वारा क्रोध के स्वरूप को पुरुष के समान

---

1. प्रिय स्वाध्यायप्रवचने भवतो...प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः प्रज्ञा वर्धमाना।। श. ब्रा. 11.5.7.1
2. न वै मित्रं कं चन हिनस्ति न मित्रं कश्चन हिनस्ति...।। श. ब्रा. 5.3.2.7; 6.5.4.10
3. श. ब्रा. 3.6.1.8; 6.6.3.2
4. सर्वस्माऽइव कमर्मणे यदेव साधु वदेद्यत्साधु कुर्यात्।। श. ब्रा. 5.4.4.5

मानकर उसे काला, पीली आँखों वाला तथा दण्डधारी बताया गया है एवं अग्निहोत्र-कर्त्ता के समान मनुष्य को क्रोध पर विजय प्राप्त करने का उपदेश भी दिया गया है।[1] कर्मकाण्ड प्रधान इस ब्राह्मण में दीक्षित पुरुष के लिए क्रोध का निषेध किया गया है। कथित है कि यदि दीक्षित पुरुष क्रोध करे तो निश्चित ही वह पाप करता है और व्रत भंग कर देता है।[2] अतः क्रोध को हिंसा और द्वेष का बीज जानकर समाजिक पतन के कारण के रूप में निन्दनीय जानना चाहिए।

सुरापान

शतपथ ब्राह्मण में सुरा को जलों व औषधियों का रस कहकर जहाँ आनन्द-दायक बताया गया है[3] वहीं इसके दोषों को गिनाते हुए कहा है कि वास्तव में सुरापान करने से व्यक्ति अपने मानसिक संतुलन पर नियन्त्रण नहीं रख पाता, जिससे कभी-कभी वह अनैतिकता की ओर प्रवृत हो जाता है। इसी दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण में सुरा को अनृत, पाप और अन्धकार कहा गया है।[4] चूँकि सुरापान करने वाला व्यक्ति उन्मत्त की भाँति वार्तालाप करने लगता है[5], इसी कारण शतपथ में ब्राह्मणों के लिए सुरा को अभक्ष्य[6] कहा गया है।

द्रोह

अनिष्ट चिन्तन या वैमनस्य का भाव द्रोह कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में उल्लिखित है कि देवताओं में आपस में झगड़ा हो गया, वे सब चार भागों में विभाजित हो गये और एक-दूसरे की महत्ता को अस्वीकार करने लगे। उनके अलग-अलग होते ही असुर राक्षस उनके बीच में घुस गये। तब असुरों द्वारा अपने विध्वंस की कल्पना करके देवताओं ने परस्पर वैमनस्य-भाव को त्याग दिया।[7] प्रस्तुत आख्यान इङ्गित करता है कि आपस में मिलकर मैत्री-भाव से रहने पर शत्रु निर्बल पड़ जाता है और ऐसी स्थिति में शत्रु कभी भी घातक नहीं होता।

---

1. कृष्णः पिङ्गाक्षो दण्डपाणिरस्थात्क्रोधो वै सः.....तेन क्रोधं जयति।। श. ब्रा. 11.6.1.13
2. अथ यद्दीक्षितः। अव्रत्यं वा व्याहरति क्रुध्यति वा।। श. ब्रा. 3.2.2.24
3. सोममदं च सुरामदं। श.ब्रा. 12.8.1.1, वाऽएष ओषधीनां च रसो।। श.ब्रा. 12.8.1.4
4. ततः सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमोऽनतृं पाप्मा तमः सुरैतेऽएव।। श. ब्रा. 5.1.2.10
5. अभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्त्वा वदति।। श. ब्रा. 1.6.3.4; 5.5.4.5
6. अशिवऽइव वाऽएष भक्षो यत्सुरा ब्राह्मणस्य।। श. ब्रा. 12.8.1.5
7. श. ब्रा. 3.4.2.1-2

काम

धर्माविरुद्ध काम ही नैतिक दृष्टि से समाज के लिए हितकर माना गया है। संयम और मर्यादापूर्वक काम ही सेवन योग्य कहा गया है। इसी ओर इङ्गित करते हुए शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को श्री मानकर उसके प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा का स्पष्टतः निषेध किया गया है।[1] वर्तमान समाज में स्त्रियों के प्रति बढ़ते हिंसक एवं अनैतिक आचरण को नियन्त्रित करने के लिए निश्चित ही शतपथ ब्राह्मण का यह वाक्य सदा स्मरण करने योग्य है।

अभिमान

शतपथ में अभिमान को पराजय का मुख्य कारण बताकर कई स्थलों में इसका निषेध किया है।[2] वस्तुतः अभिमानी व्यक्ति हीन मानसिकता वाला होता है। ऐसे व्यक्ति समाज में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने में निर्बल होते हैं। इस प्रकार अभिमान को नैतिक दृष्टि से निन्दनीय माना गया है।

द्वेष

शतपथ ब्राह्मण में आख्यानों के माध्यम से द्वेष भाव का उल्लेख है। अग्निहोत्र यज्ञ के प्रसंग में वर्णन है कि पहले देव और मनुष्य साथ-साथ ही निवास करते थे, तब मनुष्यों के पास जिस किसी वस्तु का अभाव होता था, वे निसंकोच देवताओं से माँग लेते थे। इसी द्वेष के कारण देव मनुष्यों से छिप गये।[3] एक अन्य स्थान पर कथित है कि त्वष्टा का एक पुत्र था, जिसके तीन मुख और छः आँखे थीं। इन्द्र ने द्वेषवश त्वष्टा के पुत्र के तीनों सिर काट दिये।[4] इसी प्रकार द्वेषी शत्रु को शोक अथवा विनाश पहुंचाने का भाव भी अनेक स्थलों पर मिलता है।[5] अतः कहा जा सकता है कि द्वेष-भाव से युक्त चित वाला व्यक्ति सदा हिंसा के मार्ग को अपनाता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि व्यक्ति के चरित्र से ही उसका व्यक्तित्त्व प्रकट होता है इसीलिए वैदिक ऋषि ने शतपथ ब्राह्मण के अनेक सन्दर्भों में पद-पद पर चारित्रिक गुणों को बताया है, जिनसे न केवल आदर्श समाज की संरचना सम्भव है

---

1. स्त्री वाऽएषा यच्छ्रीर्न वै स्त्रियं घ्नन्त्युत। श. ब्रा. 11.4.3.2
2. पराभवस्य हैतन्मुख यदतिमानः।। श. ब्रा. 5.1.1.1
3. श. ब्रा. 2.3.4.4
4. वही 1.6.3.1-2; 5.5.4.2-3
5. वही 9.1.2.12; 9.1.1.39

अपितु मानव जीवन की उन्नति भी होगी। वर्तमान समय में परस्पर कलह, द्वेष आदि के कारण समाज में झूठ, भ्रष्टाचार, शत्रुता, अविश्वसनीयता आदि अनैतिक तत्त्वों को बढ़ावा मिला है, जिसके कारण आज अधिकतर व्यक्ति व्यथित घूमते दिखाई देते हैं। कहा भी जाता कि विचारों, व्यवहार व अपने कर्मों से उन्नत व्यक्ति को कभी कोई झुका नहीं सकता। अतः आधुनिक काल में व्यक्तित्त्व-विकास के लिए निश्चित ही शतपथ ब्राह्मण उत्प्रेरक है और उसमें वर्णित चारित्रिक गुण विषयक चर्चा लाभप्रद है।

✦✦✦

उपनिषदों में काव्यतत्व : छन्द-योजना

–डॉ. मोनिका मिश्रा

संस्कृत विभाग,

माता सुंदर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

वेद विश्व का प्राचीनतम साहित्य है, वेद के अंतर्गत अनेक शाखाओं में प्रचलित चार वैदिक संहिताओं को परम्परागत रूप में माना जाता है और उन पर लिखे गए व्याख्यात्मक ग्रंथ ब्राह्मण नाम से माने जाते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के दो भाग हैं-

1. शुद्ध ब्राह्मण, जिनमें वेद मंत्रों की व्याख्या तथा कर्मकांड का प्रतिपादन है।
2. आरण्यक, जिनमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक चिंतन पाया जाता है।

इसी चिंतन का चरमोत्कर्ष आरण्यक ग्रंथों के उपनिषद् खंड में प्राप्त होता है। उपनिषद् शब्द की रचना उप+नि+षद्लृ (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से होती है, षद्लृ धातु के विशरण (विनाश), गति (ज्ञान) और अवसादन (शिथिलीकरण) तीन अर्थ हैं। उपनिषदों की संख्या काल क्रम से धीरे-धीरे बढ़ते हुए 200 से ऊपर आ पहुंची है। अक्षमालोपनिषद् से लेकर हेरम्बोपनिषद् तक लगभग 220 उपनिषद् प्राप्त हैं परन्तु प्राचीन वैदिक शाखाओं से निकटतम तथा साक्षात् संबंध रखने वाले 15-20 उपनिषद् ही उपलब्ध हैं।

उपनिषदों में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों जीवनमूल्यों तथा नैतिक मानदंडों के दर्शन होते हैं, उपनिषद् मात्र दर्शन ग्रंथ नहीं अपितु उपनिषदों के मंत्र उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण हैं, उनमें परवर्ती साहित्य में प्रतिसंपादित अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि आदि काव्यतत्वों के पूर्वरूप तथा उनके निदर्शन प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य के अनुशालन से स्पष्ट होता है कि महाभारत और रामायण से प्रारंभ होकर कालिदास, भारवि आदि के काल में जो काव्य परंपरा प्रवाहित होती रही उनका मूल वेदों और उपनिषदों में भी विद्यमान है, वैदिक ऋषि व्यास, वाल्मीकि के प्रेरक हैं उन्होंने काव्य की परंपरा चलाई, काव्यप्रस्थान का निर्माण किया, जिस पर परवर्ती कवि चले और उनके पीछे-पीछे कालिदास, भारवि, भवभूति आए। भरत

मुनि का स्पष्ट कथन है चारों वेदों से मूल तत्व लेकर उन्होंने नाट्यवेद का निर्माण किया। गद्य पद्य की अनेक विधाएं भी वेदों उपनिषदों से आईं। अतः वेद और उपनिषद् न केवल धर्म का मूल हैं वे काव्य का भी मूल हैं–वेदोऽखिलः काव्यमूलम्। जो शब्द और अर्थ की विच्छिति अलंकारशास्त्र में अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि के रूप में विख्यात हुई, इन सबके मूल में वैदिक ऋषियों के शब्दार्थ की विच्छिति है।

काव्य के लिए परिगणित मुख्य तत्वों में छन्द का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है, छन्द का अर्थ है **"छन्दयति आह्लादयति इति छन्दः"** अर्थात् जो पाठकों को प्रसन्न करता है, आनन्द देता है, वह छंद है।

छंद को वेद के षडंगों में स्थान दिया गया है और इसे वेद का पैर माना गया है–**छंदः पादौ तु वेदस्य।**

काव्य शास्त्र के आदिम आचार्य भरत मुनि के मत में तो संपूर्ण वाङ्मय छंद ही है।

"छंदः हीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्द शब्दवर्जितम्"
(नाट्यशास्त्रम्)

छन्दों की दृष्टि से जब उपनिषदों का अध्ययन किया जाता है तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक तथा लौकिक साहित्य के बीच छन्द इत्यादि की कड़ी जोड़ने वाले उपनिषद् ही हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में एक प्रसंग आया है जिसमें छंद के अर्थ, प्रयोजन, सामर्थ्य तथा माहात्म्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है–

दैवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्।
ते छंदोभिरच्छादयन्।
यदेभिरच्छदयैस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। (छांदोग्योपनिषद्)

वैदिक छंदों को छोड़कर एकदम लौकिक छंदों की रचना नहीं हुई अपितु वैदिक से धीरे-धीरे लौकिक छंदों की ओर प्रवृत्ति हुई। यही कारण है कि उपनिषदों में कई ऐसे छंदों का मिश्रित रूप ही है, परन्तु केन इत्यादि उपनिषदों में न वैदिक छंदों का ही शुद्ध रूप प्राप्त होता है न लौकिक का। यथा–

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।। (केनोपनिषद् 3.9)

यहां 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो' यद् इस पाद में इंद्रवज्रा छंद है, किन्तु अगले पाद 'वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राण:' में एक वर्ण बढ़ जाने से इंद्रवज्रा समाप्त हो गया है। इसी प्रकार–

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्।
तां होवाच किमेतद्यक्षमिति।। (केनोपनिषद् 3.9)

इसमें आपाततः वैदिक छंद की प्रतीति भले ही हो परन्तु उसके लक्षण नहीं घटते, कहीं कहीं केवल उच्चारण के भेद से छंद की स्थिति ठीक बैठ जाती है। जैसे–

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इतिचिंत्यम्।
स योग एषां न त्वात्मभावाद् आत्माऽप्यनीशः सुखदुखहेतोः।।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् 1.2)

यहां केवल द्वितीय पाद में 'पुरुषेति' इस प्रकार छंद की दृष्टि से होना चाहिए, तथा तृतीय पाद में **"न तु आत्मभावाद्"** इस प्रकार पढ़ने पर इंद्रवज्रा छंद ठीक-ठीक बैठ जाता है। कठ, श्वेताश्वतर, मुंडक इत्यादि उपनिषदों में कई छंद सर्वथा लौकिक ही प्राप्त होते हैं। उपनिषद् साहित्य का प्रारम्भ भी लौकिक साहित्य के समान अनुष्टुप् छंद से ही होता है। ईश उपनिषद् को यदि उपनिषदों में सर्वप्रथम माना जाए तो निश्चय ही–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।
(ईशावास्योपनिषद्–1)

यह मंत्र छंदोबद्ध ही है, उपनिषदों में उपलब्ध लौकिक छंदों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं–

अनुष्टुप्–

"श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघुपंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्हस्वं सप्तमम् दीर्घमन्ययोः।।"

उदाहरण–

असुर्या नाम ते लोका अंधेन तमसाऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।। (ईशावास्योपनिषद् 3)

इंद्रवज्रा–

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

इंद्रवज्रा में दो तगण, जगण और दो गुरु होते हैं।

जैसे–

आरंभ कर्माणि गुणान्वितानि,
भावांश्च सर्वान् विनियोजयेथः।
तेषामभावे कृतकर्म नाशः।
कर्म क्षये याति स तत्वतोऽन्यः।।

यहाँ यद्यपि प्रथम पाद के अंत में गुरु होना चाहिए था, परन्तु **"पादान्तस्थौ विकल्पेन"** के सिद्धान्तानुसार छंद में आवश्यकतानुसार पादांत वर्ण ह्रस्व भी गुरु एवं गुरु भी ह्रस्व मानने की मान्यता से यहां कोई दोष नहीं है।

उपजाति–

इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा का मिश्रित रूप ही उपजाति छंद कहलाता है। कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसके अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे–

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात् प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं,
ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृतं विश्वधाम।। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.6)

यहां पहले पाद में उपेंद्रवज्रा तथा दूसरे पाद में इंद्रवज्रा होने से उपजाति छंद है। इसी प्रकार–

काली कराली च मनोजवा च,
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरूपी च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः।। (मुंडकोपनिषद् 1.2.4)

इस मंत्र में भी उपजाति छंद है।

वंशस्थ–

वंशस्थ का लक्षण इस प्रकार है–

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

जैसे–

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने,
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है यहां केवल शर्करा के **रा** में मात्रा के ह्रस्व होने से छंद पूर्ण हो जाता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि छंद अलंकार, गुण, रीति आदि काव्य के तत्त्व ऋग्वेद से विकसित होते-होते उपनिषद् काल तक आए और फिर रामायण और महाभारत में से आगे बढ़ते हुए कालिदास, भारवि, माघ आदि के समय तक पूर्णरूपेण पल्लवित तथा पुष्पित हो गए। इनका पूर्ण परिपाक हो जाने पर ही लक्षणग्रंथों में आचार्यों ने इनका प्रौढ़ विवेचन किया।

✦✦✦

वैदिक वाङ्मय में वैश्विक समस्याओं का समाधान

डॉ. अनुभा जैन

गुरु नानक गर्ल्स कॉलेज

युमनानगर (हरियाणा)

मानव जीवन में सर्वाङ्गीण उन्नति एवं सफलता के लिए भारतीय ऋषियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक 4 पुरुषार्थ निर्धारित किए हैं जिसके द्वारा मानव सत्याश्रित होकर नियम पूर्व विद्याध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त करके दुर्गुणों का त्याग करता है तथा पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुए यश प्राप्त करता है। इस प्रकार सत्य और निष्ठापूर्वक सदाचरण का पालन करता हुआ मानव अन्ततः जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करता है क्योंकि मानव शरीर मुक्ति का खुला द्वार है। किसी भी काल में विश्व की किसी भी समस्या का समाधान एवं निराकरण तभी सम्भव है जब मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास हो और इस विकास का मार्ग-दर्शन प्राच्य-विद्या में अन्तर्निहित है। धर्म का मार्ग प्रशस्त करने वाले वेदों, जीवन को उच्च बनाने वाले संस्कारों को वर्णित करने वाले ग्रन्थों में उपदिष्ट किया गया है। वेदों में उपदिष्ट शिक्षाएँ समतावादी, समाजवादी, मानवतावादी, कल्याणकारिणी तथा रंगभेद, वर्णभेद, कर्मभेद, राज्यभेद, भाषाभेद आदि से सर्वथा मुक्त एवं विश्व-बन्धुत्व की प्रेरणा प्रदान करने वाली हैं जिसकी आधुनिक युग में समस्याओं का निराकरण करने के लिए महती आवश्यकता है।

वैदिक वाङ्मय में मनुष्य को सामाजिक दृष्टिकोण से सुदृढ़, सुगठित एवं सुव्यवस्थित करने के लिए अनेक मार्ग दर्शाए गए हैं। उन वैदिक मन्त्रों में जहाँ एक ओर अध्यात्म दर्शन, कर्मकाण्ड, ईश्वर, जीव, प्रकृति के गुणों एवम् उपासना आदि का वर्णन है, वहाँ दूसरी ओर सांसारिक सुख के लिए कर्त्तव्य, नैतिक शिक्षा, आचार-व्यवहार, समाज-निर्माण सम्बन्धी व्यापक व्यवस्था, राज-व्यवस्था, भौतिक ज्ञान-विज्ञान आदि का वर्णन है।

चाणक्य के अनुसार सामाजिक संगठन ही मनुष्य का रक्षक है।[1] उसी तथ्य के आधार पर ही आधुनिक भारतीय समाज एवं राष्ट्र को एकत्रित व संगठित होने

1. चाणक्य सूत्र 514.

की आवश्यकता है ताकि वह बाहरी एवं आन्तरिक नकारात्मक वृत्तियों एवं शक्तियों के आक्रमण से क्षत–विक्षत न हो। वेद प्रामाणिक एवं पुरातन ग्रन्थ है। शाश्वत रूप से विद्यमान एवं सृष्टि के आरम्भ काल से ही ये वेद मानव को यह उदात्त उपदेश देते हैं कि अपनी लक्ष्यपूर्ति समाज एवं राष्ट्र के उत्थान के लिए उसे अपना मनोबल उच्च रखना चाहिए तभी एक पुष्पित एवं प्रफुल्लित समाज का निर्माण सम्भव है और इसी प्रकार के सशक्त समाज से ही वैश्विक आधुनिक समस्याओं यथा भ्रष्टाचार, आतंकवाद, हिंसकवृत्तियों बढ़ती हुई जनसंख्या, पतित होते हुए नैतिक–मूल्यों को नियन्त्रित किया जा सकता है परन्तु इस सम्पूर्ण कार्य के लिए दृढ़ संकल्प एवं सशक्त भावना का उत्पन्न होना आवश्यक है तभी मानव अपने विचारों को कार्यान्वित रूप प्रदान कर सकता है। संकल्प शक्ति ही सृष्टि का आदि बीज (मूल) माना गया है जो वास्तविकता में मन में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ।[1] सृष्टि–रचना के संदर्भ में सर्वप्रथम परमात्मा की संकल्प शक्ति ही उसके उत्थान, पतन और जीवन का आधार है। वैदिक मन्त्रों में समाजवादी भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है जिसमें न केवल मानव के लिए बल्कि गौ आदि पशुओं तथा विचरण करने वाले प्राणियों के लिए भी मंगल कामना की गई है।[2] वेदों में स्पष्ट रूप से सभी प्राणियों के साथ समता का व्यवहार करने का उपदेश दिया गया है।[3] तत्कालीन वैदिक समाज में लोग परस्पर भ्रातृत्व–प्रेम, मैत्रीत्व भाव एवं द्वेष रहित जीवन व्यतीत करने की कामना रखते थे।[4] इस प्रकार जो जीव मन, वचन एवं काय से समानता का व्यवहार करते हैं उनके लिए 'यजुर्वेद' में 100 वर्षों तक जीने की कामना की गई है[5] क्योंकि ऐसा सदाचारी मनुष्य ही समाज में स्वयं भी सुखी रह सकता है और दूसरों को भी सुख प्रदान करने में सर्वथा समर्थ होता है। व्यक्ति के द्वारा किया गया समानता, सत्यता, शुद्धता, चरित्रशीलता का पालन समाज को सुदृढ़ एवं विशुद्ध बनाने के लिए अत्यावश्यक है।[6]

---

1. मनुस्मृति,, 1.128, : श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
   इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।।
2. अथर्व., 1.31.4, : स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
3. वही, 3.30.6 : समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो
   युनज्मि ।सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।।
4. वही, 3.30.1 : सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
   अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।
5. यजुर्वेद, 19.46 : ये समानाः समानसो जीवा जीवेषु मामकाः।
   तेषां श्रीमयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतं समाः।।
6. ऋग्वेद, 10.5.6 : सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदमभ्यंहुरो गात्।
   आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।।

व्यक्ति से परिवार बनता है एवं परिवार से समाज का निर्माण होता है। स्पष्टतः यदि मानव स्वस्थ मस्तिष्क से युक्त हो, सद्भाव से लिप्त हो और स्वयं के साथ-साथ विश्व के सभी लोगों के कल्याण एवं मंगल की कामना करे तो निश्चित रूप से न केवल एक समाज या एक देश अपितु यह सम्पूर्ण विश्व ही विश्वबन्धुत्व की भावना से आबद्ध हो जाएगा। स्वयं अथर्ववेद में भी व्यक्ति, परिवार, समाज से भी ऊपर उठकर इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर रहने वाले लोगों के कल्याण की बात कही गई है।[1]

इस प्रकार परस्पर मिलकर कार्य करने से, आपसी सहयोग से ही वैश्विक आधुनिक समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुव्यवस्थित हो। 'अथर्ववेद' में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है।[2] मनुष्य को राष्ट्रहित की भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए।[3] स्पष्टतः ऋषियों द्वारा प्राप्त विद्या में प्रदिष्ट एवं उपदिष्ट लोक कल्याण की भावना अनेक स्थलों पर उद्धृत होती है।[4] यही कारण है कि वैदिक ग्रन्थों को आधुनिक समय में भी अध्ययन करने से लोगों में निश्चित रूप से सकारात्मक वृत्तियों का समावेश होगा। इसी प्रेरणा से मानव में परोपकार, अहिंसा, सद्वृत्ति, स्वदेश प्रेम आदि गुणों का विकास होगा जिनको अपने व्यवहार एवं आचरण में धारण करने से ही आधुनिक काल में विश्व में उत्पन्न होने वाली समस्याओं भ्रष्टाचार, हिंसक-वृत्ति, आतंकवाद जैसी भयावह विपदाओं से निपटा जा सकता है।

मनुष्य जीवन के सुख का सबसे बड़ा सिद्धान्त मैत्री भाव है। मनुष्य को मात्र स्व के लिए नहीं स्वजनों के लिए ही नहीं बल्कि दूसरों के प्रति भी मैत्री भाव रखना चाहिए।[5] सामाजिक एवं संवेदनशील प्राणी होने के कारण मनुष्य का सम्बन्ध केवल अपने आप से ही नहीं रह जाता, प्रत्युत उसका सम्बन्ध दम्पत्ति, कुटुम्ब, जाति, समाज तथा विश्व के समस्त प्राणियों से स्थापित हो जाता है।[6] सबसे प्रेम, दया और सहानुभूति का व्यवहार करने से समाज में एक-दूसरे के प्रति विश्वास एवं कल्याण करने की भावना सुदृढ़ होती है। समाज के लोगों को एकबद्ध करने के लिए यह

---

1. अथर्ववेद, 7.53;(55).7 : उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्।
2. अथर्ववेद, 7.111;(116) : इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम्।
3. वही, 8.1.6, : उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।
4. वही, 13.1.2 : विश आ रोह त्वद्योनयो याः।
5. ऋग्वेद, 10.71.10 : सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
   किल्विषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय।।
6. वही, 8.31.5 : या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा।

महती आवश्यक है कि परस्पर किया जाने वाला वाक्-व्यवहार भी भद्र हो।[14] इस प्रकार ऋषियों ने सदैव मिल कर रहने की प्रेरणा दी है।[15]

आज के युवा वर्ग को इसी शिक्षा का पालन करना चाहिए ताकि वह धार्मिक परम्पराओं का अनुगमन करते हुए अपने जीवन को उचित दशा एवं दिशा प्रदान कर सकता है। सकारात्मक वृत्तियों एवं विचारों के पोषण से ही मानव अपने शरीर एवं मस्तिष्क को हृष्ट-पुष्ट एवं स्वस्थ रख सकता है जो समाज एवं राष्ट्र के निर्माण एवं विकास के लिए अनिवार्य है।

चरित्र मनुष्य का दर्पण है, परन्तु आधुनिक काल में शनैः-शनैः इस चेतना का अभाव हो रहा है। संतानों की भावी दिशाएँ बदल गई हैं।

विज्ञान के बल पर हम कितनी ही प्रगति क्यों न कर लें, आकाश में विचरण करें चाहे चाँद और मंगल ग्रह तक पहुँच जाएँ, लेकिन समाज एवं राष्ट्र सुगठित, सुव्यवस्थित, पुष्पित एवं पल्लवित तभी हो सकता है जब मानव अपने मूल संस्कारों एवं संस्कृति से बद्ध रहे।

वैदिक विशुद्ध परम्पराओं को अपनाकर विश्व के पर्यावरण एवं परिवेश को भी बहुत हद तक शुद्ध करने में सहायता मिल सकती है जो विश्व की गम्भीर समस्याओं में से एक है। वैदिक ऋषि भी पर्यावरण विशुद्धि, वर्षा प्राप्ति एवं अन्य अनेक कामनाओं की पूर्ति के लिए याज्ञिक अनुष्ठान किया करते थे। वेद में '***निकामे निकामे पर्जन्यो वर्षतु***' इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि ऋषि भी वैदिक काल में उचित समय पर वर्षा होने के लिए चिन्तित रहते थे ताकि फसल अच्छी मात्रा में हो एवं धन-धान्य की वृद्धि से पर्यावरण विशुद्ध रहे।

वैदिक वाङ्मय में मात्र चेतन तत्त्वों से ही नहीं बल्कि जड़(अचेतन) तत्त्वों के कल्याण-सम्बन्धी भी अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। ऋषि प्रकृति सुख के विषय में भी चिन्तित रहते थे। वर्षा के समय पर होने, पृथ्वी एवं ग्रहों के शान्त रहने, नदियों के अपने मार्ग पर ही स्वच्छन्द गति से विचरण करते रहने की मंगल कामनाएँ की गई हैं[16] ताकि प्राकृतिक तत्व शान्त रहें और अपने कार्य में रत रहें जिससे भूकम्प, सुनामी, भू-स्खलन, नदियों का दिशा-परिवर्तन, नक्षत्र-ग्रहण जैसे प्रकोप न हों और मानव-जीवन अस्त-व्यस्त न हो। ये वैदिक मन्त्र इस तथ्य का

---

14. अथर्व., 1.34
15. ऋग्वेद, 10.117.4 : न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।
16. अथर्व., 13.1.8 : ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन।

स्पष्ट संकेत देते हैं कि अपनी उन्नति एवं प्रगति की दिशा में कार्यरत रहने वाले मानव को प्राकृतिक तत्त्वों से छेड़-छाड़ नहीं करनी चाहिए।

स्पष्टत: ऋषियों का यही सन्देश है कि समाज में रहकर व्यक्ति को समाज के अनुकूल ही कार्य करने चाहिए। सभी जन एक मत से मिलकर तथा विचार करके कार्य करें जिससे समाज के लोग परस्पर भावनात्मक रूप से जुड़े रहें।

जिस प्रकार द्यौ, पृथिवी, दिन-रात, सूर्य-चन्द्र, ब्रह्म, नक्षत्र, सत्य, अमृत, भूत-भविष्यत् आदि सभी समयानुकूल सृष्टि कर्म में संलग्न रहते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति को भी समाज में रहते हुए अपने शुद्धाचरण के साथ निर्भय होकर अपना कार्य उचित समय पर एवं सुचारू रूप से करना चाहिए। इसी प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य एवं धर्म का पालन निष्ठा से करे तो उसका आचारण शुद्ध, स्वच्छन्द एवं पवित्र होता है तथा सामजिक कृत्य सुष्ठु रूप से होता है। यह वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय सभी स्तर के लिए आवश्यक है।

✦✦✦

विश्व शांति हेतु वैदिक जीवन-मूल्य

डॉ. कामना जैन,

एसि.प्रो., राजनीति विज्ञान,
एस.एस.डी.पीसी.गर्ल्स (पी.जी.) कालेज, रुड़की

अरस्तु के अनुसार, राज्य का जन्म मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए हुआ है। मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित मानव समुदाय के बढ़ते घेरे की चरम परिणति राज्य है।[1]

यह सत्य है कि मनुष्य ने जब परिवार, कस्बा, ग्राम और नगर राज्य के रूप में संगठित होकर रहना सीखा तदुपरान्त वह निरन्तर प्रगति ही करता गया। मानव ने अपनी बुद्धि द्वारा सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदि का निरन्तर विकास किया। स्थान और समय पर विजय प्राप्त करने के लिए नित नवीन वैज्ञानिक खोजें व आविष्कार होने लगे। वैज्ञानिक निरन्तर इस लक्ष्य की प्राप्ति में लगे रहे कि किस प्रकार अविष्कारों व नवीन मशीनीकरण द्वारा मानव जीवन कष्ट मुक्त होकर अधिक सुखी व आनंदमय बने। किंतु जैसा कि विदित है प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते है- सकारात्मक व नकारात्मक। एक तरफ कुछ वैज्ञानिक मस्तिष्क विज्ञान का उपयोग सृष्टि व मानव कल्याण हेतु कर रहे थे तो दूसरी तरफ विभिन्न जातियां, धर्म तथा राष्ट्र गर्वोन्मत्त होकर इन वैज्ञानिक आविष्कारों का दुरुपयोग अपनी श्रेष्ठता, सत्ता ओर वर्चस्वता को अन्य पर थोपने के लिए कर रहे थे। तकनीकी विकास के फलस्वरूप जहां राष्ट्र एक दूसरे के निकट आए, वैश्वीकरण की दिशा में अग्रसर हुए वहीं दूसरी तरफ ऐसे आधुनिक प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण भी हुआ जो मीलों दूर बैठे दुश्मन राष्ट्र को समूल नष्ट कर दें।

अस्त्र-शस्त्र मानवता के लिए खतरा – पहले विवाद आमने सामने लाठी डंडों से हुआ करते थे, किंतु अब युद्ध मात्र सीमा पर खड़े प्रहरियों के मध्य नहीं होते वरन् आक्रमण कहीं भी, कभी भी किसी पर भी किया जा सकता है। हथियारों में

1. प्रभुदत्त शर्मा, *पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास,* कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, पृष्ठ 99

निरन्तर मात्रात्मक व गुणात्मक वृद्धि होती गयी। वर्तमान में विश्व में लगभग 60,000 परमाणु शस्त्र तैयार हैं जिनसे समस्त विश्व को 12 बार नष्ट किया जा सकता है। मैक्स लर्नर ने परमाणु युद्ध को अति विध्वंस का युग कहा है।[1] मनुष्य की सूझबुझ चकमक पत्थर से इस्पात तक, इस्पात से बारूद तक, तथा बारूद से विषैली गैस ओर रोगों के कीटाणुओं तक आगे बढ़ आई है।[2] ऐसे प्रमाण मिले हैं कि वर्तमान सीरिया संकट में सरिन, वी.एक्स, मस्टर्ड जैसी नर्व गैसों का प्रयोग किया जा रहा है। इनको रंगहीन, स्वादहीन तरल पदार्थ सायनाइड से भी अधिक खतरनाक माना जाता है। सुई की नोक के बराबर मात्रा ही इंसान की जान ले सकती है।[3] वर्तमान में वैश्विक परिस्थितियों को देखते हुए रूसो का कथन सत्य प्रतीत होता है कि **''विज्ञान तथा कला की तथाकथित प्रगति से ही मानव सभ्यता का ह्रास, नैतिकता का विनाश और चरित्र का पतन हुआ है।''**[4] संसार के गर्वोत्तम, दमनकारी व आंतकवादी राष्ट्र, सत्ता, श्रेष्ठता, तथा वर्चस्वता की लड़ाई में अपनी यश:पताका फहराने के लिए अन्य देश व जातियों को अपने से हीन मानकर नृशंस हत्याऐं करते रहे हैं। कहीं कहीं तो मानव, 'मानव' होने के अधिकार से भी वंचित है। निरंतर विकसित होती प्रोद्योगिकी के साथ नाभिकीय, जैविकीय व रासायनिक हथियारों के प्रयोग द्वारा युद्ध आधुनिक संसार में मानवता और सभ्यता के लिए भयंकर संकट बन गया है। यह शारीरिक हिंसा तथा शत्रु के विरुद्ध घृणा के प्रचार द्वारा मनोवेगों को पाश्विक बना देता है।[5]

जैसा कि सेंट आगस्टाइन ने कहा था, **"युद्ध में क्या बात निंदा योग्य है? क्या यह तथ्य है कि यह उन लोगों को मारता है, जो सबके सब किसी ना किसी दिन मरेंगे ही? इस बात के लिए दुर्बल चरित्र व्यक्ति युद्ध की निंदा करें तो करें, किंतु धार्मिक व्यक्ति नहीं कर सकते । युद्ध में जो निदंनीय वस्तु है, वह है हानि पंहुचाने की इच्छा, अदम्य घृणा, प्रतिरोध की उग्रता और प्रभुत्व जमाने की वासना।"**[6] कुछ अराजक, अमानवीय, पाषाण हृदय मनुष्य स्वार्थ वशीभूत अन्य की भावनाओं को भड़काकर, वैमनस्यता का प्रचार करते हैं तथा हिंसा

---

1. एस.सी. सिंहल, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2003, पृष्ठ–286–287
2. एस.राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1967, पृष्ठ 353
3. प्रतियोगिता दर्पण, विजन कुमार पाण्डेय लेख–सीरिया: गृहयुद्ध लेता खतरनाक मोड़, जनवरी–2014, पृष्ठ 1087
4. प्रभुदत्त शर्मा, पा.रा. विचारों का इतिहास, पृष्ठ–341
5. एस.राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृष्ठ– 353
6. उपरोक्त– पृष्ठ–253

व युद्ध के लिए उकसाते हैं। सत्य है कि युद्ध पहले मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होता है बाद में युद्ध भूमि में लड़ा जाता है।[1] युद्ध की आवश्यकता न तो राष्ट्रीयता में निवास करती है, न राष्ट्र में, अपितु इसका विकास तो मानव स्वभाव में ही है। युद्ध प्रेम कोई सहज प्रवृत्तिक मनोवृत्ति नहीं है, अपितु अधिगत मानसिक आदत है, और जब तक सत्ता और सफलता की पूजा होती है, तब तक सैनिक परम्परा अपने यांत्रिक अमानवता के आधुनिक रुप में फलती फूलती रहेगी। और वर्तमान के आधुनिक युद्ध में उद्देश्यों के अनुपात में इतनी अधिक हत्या होती है कि अतीत में युद्ध को उचित ठहराने के लिए जो युक्तियाँ और मनोभाव प्रस्तुत किये जाते थे, वे अब समर्थनीय नहीं रहे।[2]

युद्ध-समाप्ति एवं वैश्विक शांति हेतु विभिन्न विकल्प :-

अतः प्रश्न उठता है कि हिंसा को कैसे मिटाया जाए? ज्यादा चौकस पुलिस मदद से? या जन साधारण की प्रति हिंसा से? पिछले कुछ वर्षो के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि इनमें से कोई भी उपाय कारगर नहीं होगा और प्रति हिंसा से कभी शांति स्थापित नहीं हो सकती। उससे तो हिंसा केवल छिप जाएगी अंदर ही अंदर सर्वव्यापी हो जाएगी।[3] यह भी देखा गया है कि भयंकर युद्धों व संघर्षो के पश्चात् शांति के पुजारी आदर्शवादी विचारक युद्ध के वैकल्पिक उपायों पर विचार करते हैं। विवादों को युद्ध भूमि के अतिरिक्त अन्य माध्यमों-वार्ता, पंच निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी, न्यायालय आदि के द्वारा सुलझाने के प्रयासों की चर्चा की जाती है।

यूरोप के 30 वर्षीय युद्ध और लुई चौदह के युद्धों के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधान की भावना तथा शक्ति साम्य के सिद्धान्तों का विकास हुआ। 19वीं शताब्दी में नेपोलियन के युद्धाभ्यास के बाद 'पवित्र संधि' का जन्म हुआ तथा यूरोपीय एकता के लिए प्रयत्न होने लगा। 1899 और 1907 के हेग सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत के संघटन की योजना तैयार की गई।[4] प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918) के पश्चात् 'लीग आफ नेशन्स' की स्थापना की गई। द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1944) के पश्चात् विश्व युद्ध में आहत मानव चेतना ने यह उद्घोषणा की - **''रक्त रंजित मानवता के टुकड़ों जो विश्व के कई युद्ध मैदानों, विशेषकर हिरोशिमा,**

1. यू.आर. घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, न्यू एकेडमिक पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर, 2008, पृष्ठ-348
2. एस.राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृष्ठ-250
3. उदयन शर्मा, हिंसा का लावा, राधाकृष्णन प्रकाशन, 1978, पृष्ठ-11
4. रामनारायण यादवेन्दु, राष्ट्र संघ और विश्वशांति, मान सरोवर साहित्य, निकेतन, मुरादाबाद, 1936, पृष्ठ-6

नागासाकी की धरती पर बिखरे पड़े थे, चीख-चीखकर चिल्लाए कि हमें शांति शांति और पृथ्वी पर शांति चाहिए।"[1] तब 24 अक्टूबर 1945 में सयुंक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ओ.) का विश्व में उदय हुआ। मानवता की रक्षा के लिए यू.एन. ओ. द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को **''मानव अधिकारों की सार्वभौमिक उद्घोषणा''** भी की गई। किंतु समस्या यह है कि उपरोक्त समस्त प्रयासों के बाद भी विश्व में शांति स्थापित क्यों नहीं हो पायी? वर्तमान में भी विश्व के विभिन्न भू-भाग हिंसा की चपेट में हैं। बर्बरतम तरीकों से जनसमूह व जाति विशेष को जड़समूल नष्ट करने के प्रयास किए जा रहे हैं। उग्र स्वार्थी भावनाओं से ग्रसित मनुष्य विरोधी पक्ष के साथ पशुओं से भी बदतर व्यवहार कर रहा है। उग्र भावनाओं से मानवता अत्यंत असुरक्षित हो गयी है।

दरअसल व्यक्ति की समस्त क्रियाऐं व व्यवहार आस-पास के वातावरण तथा मन मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले विचारों से प्रभावित होती है। अतः आवश्यकता जिस मन व हृदय से विचारों का उद्भव होता है, प्रथम उनका पवित्र व नैतिक होना आवश्यक है, तभी हिंसा, वैमनस्यता, अहं आदि भागों को समाप्त कर वैश्विक शांति की स्थापना की जा सकती हैं। उग्र राष्ट्रीयता की अपेक्षा सीमा, जाति धर्म रंग आदि के भेदभाव से ऊपर उठकर विश्व के किसी भी भू-भाग में रहने वाले 'मानव' के अधिकारों और कल्याण के लाभ पर विचार करना होगा। क्योंकि धार्मिकता, राष्ट्रीयता, जातीयता आदि भावनाऐं जब उग्र स्वरूप धारण करती हैं तो रक्तपात ही लाती हैं, किंतु मानवता की भावना जितनी उग्र होगी, उतनी सर्वकल्याणमयी होगी। और यह धरती सभी के लिए स्वर्ग समान बन जाएगी। मात्र नैतिक विचार, मानव मन को शुद्ध कर युद्ध की भावना को पनपने से रोक सकते हैं। मानव मन की शुद्धता तथा वैश्विक कल्याण हेतु जिन मानवीय मूल्यों की आवश्यकता है, वे वैदिक ज्ञान से प्रेरित भारतीय संस्कृति, भारतीय वाङ्मय तथा भारतीय सामाजिक जीवन पद्धति में सहज ही उपलब्ध हैं। जिनका अनुकरण करके विश्व बंधुत्व, प्रेम, दया परोपकार जैसी भावनाओं का प्रसार किया जा सकता है।

वैदिक जीवन मूल्यों के हृदयंगम की आवश्यकताः-

भारतीय वाङ्मय में विश्वबंधुत्व तथा मानव कल्याण के विचारों का समावेश है। इसके अंतर्गत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र-पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जनहित को सर्वोच्च महत्व दिया गया है। भारत-भूमि में विश्व बन्धुत्व की भावना से समन्वित राष्ट्रीयता का उदय हुआ है। वैदिक संस्कृति के अनुसार

---

1. यू.आर. घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, पृष्ठ-344

विश्वप्रेम और देश प्रेम एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक भाव है। वेदों में लोक कल्याणकारी देश भक्ति और राष्ट्रीयता का विधान है। वैदिक संस्कृति, विश्वहितकारी आदर्श तथा समानता के ऊँचे सिद्धान्त को हमारे सामने रखती है।[1]

भारतीय संस्कृति की अक्षुण्णता का कारण उसके आधारभूत कालजयी मूल्य हैं। भारतीय संस्कृति मानवता की संस्कृति है। जो अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य पर बल देती है। **मैक्समूलर कहते हैं कि ''भारतीय संस्कृति में कर्तव्य पर बल दिया गया है और पाश्चात्य संस्कृति में अधिकार पर । पाश्चात्य देशों में अधिकार प्राप्ति के लिए युद्ध हुए हैं, रक्त क्रांति हुई हैं। भारत में महापुरुषों ने कर्तव्य पालन के आदर्श प्रस्तुत किए तथा अपने अधिकारों की मांग नहीं की। भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति है भौतिकवादी नहीं है।''**[2]

भारत के महान् सम्राट अशोक द्वारा आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व शांति स्थापना हेतु जो संदेश दिया वह इतिहास में एक अमर घटना है। कलिंग विजय के पश्चात् सम्राट् अशोक को युद्ध की निस्सारता का ऐसा कटु अनुभव हुआ कि उसने देश विजय की लिप्सा का परित्याग कर धर्मविजय द्वारा अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसे नरसंहारी युद्ध का विनाश कर उसके स्थान पर शांति और प्रेम का राज्य स्थापित किया।[3]

इतना शक्तिशाली सम्राट् होते हुए भी अशोक ने देश विजय को त्याग कर धर्म विजय का पथ क्यों अपनाया? इसका उत्तर उसके एक लेख से विदित होता है कि सेना द्वारा प्राप्त विजय सच्ची विजय नहीं होती। उससे मानव संहार होता है, प्रजाजन का कल्याण नहीं। सम्राट् अशोक चाहता तो अन्य धर्मों के अनुयायियों पर अत्याचार करके संसार में बौद्ध धर्म का प्रचार करता। परन्तु वह इसे हिंसा समझता था। इसे वह राजधर्म के विरुद्ध समझता था। जिसे लोग आदर्श समझते थे, उसी सत्य और अहिंसा के तथ्य को क्रियात्मक रूप से अशोक ने रखकर संसार को धर्म की महानता दिखला दी। इस प्रकार भारत प्राचीन समय से बंधुत्व और अंतर्राष्ट्रीयता का पुजारी रहा है। उसने किसी देश पर अपना धर्म फैलाने के लिए आक्रमण नहीं किया। और ना कभी राज्य विस्तार के लिए निरन्तर रक्तपात ही किया।[4] **वसुधैव कुटुम्बकम्'**[5] की भावना से ओतप्रोत भारतीय संस्कृति में मानव धर्म को ही

---

1. रामनाराण यादवेन्दु, राष्ट्रसंघ और विश्वशान्ति, पृष्ठ–234–235
2. शिवानंद, जीवन और सुख, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1996, पृष्ठ–112
3. रामनाराण यादवेन्दु, राष्ट्रसंघ और विश्वशान्ति, पृष्ठ–5
4. उपरोक्त, पृष्ठ–240
5. महोपनिषद् 5– 71–73

सर्वोपरि धर्म माना गया है। अहं भाव त्याग कर जनकल्याण हेतु कार्य करने से ही मानव जन्म सार्थक हो जाता है। अन्यथा एक ओर समृद्धि बढ़ेगी, दूसरी और निर्धनता, एक ओर रोगों के उपाय होंगे तथा दूसरी ओर मानव विध्वसंक अस्त्र-शस्त्र, गैसों का अविष्कार होगा। अतएव समस्त अभ्युदय का आधार नैतिकता होना चाहिए।[1] मात्र इसी विचार से समाज में शांति लायी जा सकती है। नैतिक विचार व्यक्ति के मस्तिष्क को शांति एवं प्रेम का सुखद अहसास देते हैं। नैतिकतापूर्ण व्यवहार करने वाले व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर अन्य व्यक्तियों को भी शांति, प्रेम व सौहार्द का अहसास होता है और इस प्रकार शनैः शनैः सम्पूर्ण समाज में सद्भावना व सामंजस्यता का वातावरण निर्मित होता है। गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी जैसी महान् विभूतियाँ इसी भारत भूमि की देन हैं। भारतीय जीवन शैली वेदों से उल्लिखित नैतिक विचारों से प्रभावित है। यहाँ प्रत्येक विचार को धर्म से जोड़ा गया है। और धर्म को मानव कल्याण से। यहां पिता-पुत्र, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, अरि-मित्र आदि सभी सम्बन्धों में अपने कर्तव्यों का पालन करना ही धर्म है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः[2] कहकर धरती को माता कहा गया है तथा संदेश दिया गया है कि उसकी देखभाल मनुष्य को पुत्र की भांति करनी चाहिए। इसके साथ ही समाज में व्यक्ति बिना किसी द्वेष भाव के परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करके ही आगे बढ़ सकता है। इसलिए परोपकार को सज्जन मनुष्य का आभूषण कहा गया है। **वेद व्यास** ने परोपकार के महत्व को सरल शब्दों में बताया कि ''**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्**[3] अर्थात् परोपकार करना पुण्य है और पीड़ा देना पाप है। वहीं तुलसीदास जी लिखते हैं-''परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई[4] अर्थात् परोपकार से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है तथा दूसरों को कष्ट पहुंचाने से बड़ा कोई अधर्म नहीं है। भारतीय संस्कृति स्वार्थ वशीभूत होकर केवल स्वविकास एवं स्वयं को ही सर्वश्रेष्ठ मानने का विचार नहीं देती वरन् समस्त मानवता व समस्त विश्व का कल्याण एक साथ हो ऐसा संदेश देती है। जैसा कि ऋग्वेद में उल्लिखित है-**संगच्छध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्**[5] अर्थात् सब (सम्पूर्ण मानव जगत्) एक होकर प्रगति करे, उत्तम प्रकार से संवाद करे।

---

1. शिवानंद, पूर्वोक्त, पृष्ठ-134-135
2. अथर्ववेद 12/1/16
3. रमाशंकर गुप्त, सूक्तिसागर, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, 1983, पृष्ठ 36
4. उपरोक्त, पृष्ठ-358
5. ऋग्वेद, 10.191.2

सबके मन उत्तम संस्कारों (प्रेम, बन्धुत्व, एकता की भावना) से युक्त हों। इसी प्रकार ***ऊँ सहनाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।***[1] इसमें प्रार्थना की गई है– हे ईश्वर हम सबकी रक्षा करना, हमारा एक साथ पालन पोषण करना तथा हम अपनी समस्त क्षमता व ऊर्जा के साथ मिलकर कार्य करें।

निष्कर्ष :– आज की विषम परिस्थितियों में मानव ही मानव का शत्रु बनकर उसे आंतकित कर रहा है। ऐसे में वेदों में उल्लिखित विश्वबंधुत्व की भावना हमारे कल्याण का पथ प्रदर्शित करती है। इस प्रकार के जीवन मूल्यों से पुष्पित व पल्लवित भारतीय संस्कृति प्रकृति के समस्त जीवों, चाहे वे विश्व के किसी भी भू–भाग में रहते हैं, के कल्याण का विचार रखती है।

उपरोक्त समस्त विचार मानव मन में द्वेष, अहंभाव, हिंसा, बर्बरता, शोषण आदि विचारों के प्रवेश को रोकते हैं, तथा नैतिक कार्यो के लिए प्रेरित करते हैं। उत्तम कोटि के मानव जीवन मूल्यों से सुसज्जित भारतीय संस्कृति व समाज ''**सर्वजनहिताय सर्वजन सुखाय**'' को ही जीवन का आदर्श मानती है। उपरोक्त प्रेरणास्पद विचारों का सार यह है कि अंतर्राष्ट्रीय संबधों के अंतर्गत भी व्यक्ति के हितों, अधिकारों तथा कल्याण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। समस्त मानव जाति पहले एक नागरिक है। अत: सबको समान अधिकार व सम्मान मिलना चाहिए तथा नीतिगत रूप से उन सभी के कल्याण पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

यदि वैश्विक स्तर पर ''**सत्यं शिवं सुन्दरम्**'' की कल्पना को साकार करना है तो वैदिक जीवन मूल्यों को जीवन में अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ विकल्प नहीं है। वैसे भी मानवता के हितार्थ उत्तम विचार जहां से भी मिलें उन्हें अपना लेना चाहिए। जैसा कि ऋग्वेद में उल्लिखित है–

आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:।[2]

अर्थात् उत्तम विचार हमारे पास समस्त दिशाओं से आएें।

✦✦✦

---

1. कठोपनिषद्, प्रार्थना
2. ऋग्वेद, 1.89.1

वर्तमान युग की चिकित्सा–पद्धति : योग एवं आयुर्वेद

–प्रो. ईश्वर भारद्वाज
–डॉ. ऊधम सिंह

मानवचेतना एवं योग विज्ञानविभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय विद्यायें आज सम्पूर्ण विश्व का ध्यान आकर्षित कर रही हैं। भारतीय विद्याओं की खोज ऋषियों के द्वारा हजारों वर्ष पूर्व की गई थी। ये विद्यायें आज भी उतनी ही सार्थक हैं जितनी हजारों वर्ष पूर्व थी। पूरे विश्व में सभ्यता और संस्कृति, ज्ञान–विज्ञान के प्रसारक देश के रूप में भारत विश्वविख्यात है। भारतीय ऋषियों ने परा और अपरा दोनों विद्याओं में गहन अनुसंधान किए, जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान–विज्ञान में भारत विश्व गुरु बन सका। भौतिक विद्या और अध्यात्मिक विद्या का समन्वय इस देश में ही दिखायी देता है अन्यत्र कहीं नहीं। भारत के मनीषी विद्वानों द्वारा जितनी भी विद्यायें खोजी गई हैं, उनमें से प्रत्येक विद्या का दूसरी विद्या से अन्तर्सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। जैसे प्रमुख विद्यायें योग, आयुर्वेद, ज्योतिष एवं तंत्र ये चारों विद्यायें परस्पर सम्बद्ध हैं। योग एवं आयुर्वेद गहन रूप से एक दूसरे के पूरक के रूप में दिखायी देते हैं। योग एवं आयुर्वेद जीवन जीने की पद्धति के रूप में प्रचलित हैं।

योग एवं आयुर्वेद का परिचय-

योग शब्द युज् धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ जोड़ना होता है। योग वह प्रक्रिया है जिससे चित्त अपनी वृत्तियों को इन्द्रिय–विषयों से विरक्त कर परमात्मा की ओर लगाये, परमात्मा से जोड़े, उसे योग कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा कि "चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है"[1]। चित्त स्वाभाविक रूप से चंचल होता है। चित्त को त्रिगुणी कहा गया है जो स्वाभाविक रूप से विषयासक्त रहता है। चित्त की वृत्ति जो स्वाभाविक रूप से बाह्य संसार से

1. योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः। योगसूत्र 1/2

जुड़ी होती है वह अपने स्वरूप से हमें वंचित रखती है। अतः चित्त की वृत्तियों का निरोध करने पर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है अर्थात् हम अपने स्वरूप से जुड़ जाते हैं[1]। गीता योग का महत्वपूर्ण ग्रंथ है इसके अनुसार समत्व भाव में रहना ही योग कहलाता है[2]। दूसरी परिभाषा में कहा गया है "कर्मों में कुशलता ही योग है"[3]।

विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा प्रणालियों में आयुर्वेद को माना जाता है। यह अथर्ववेद के उपवेद के रूप में स्वीकारा जाता है। आयुर्वेद का अर्थ है जीवन का ज्ञान और इसी पर सम्पूर्ण आयुर्वेद आधारित है। चरक संहिता में आयुर्वेद को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिस ग्रन्थ में हित आयु–अहित आयु, सुख आयु–दुःख आयु का वर्णन मिलता है उसे आयुर्वेद कहते हैं[4]। वहीं दूसरे अन्य ग्रन्थों में "**आयुर्वेदयति बोधयति इति आयुर्वेदः**" अर्थात् जो शास्त्र आयु का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद के प्रयोजन के लिए आचार्य चरक ने कहा है कि स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा योगी पुरुष के विकार का शमन करना[5]। आयुर्वेद का अवतरण इसी उद्देश्य को लेकर हुआ है।

योग एवं आयुर्वेद की ऐतिहासिकता–

योग विद्या भारत की प्राचीन पद्धति है जो दार्शनिक मान्यताओं और वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। वेद भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का मूल आधार है। सभी विद्याओं के मूल में वैदिक सिद्धान्त ही निहित हैं। योग विद्या का वर्णन सर्वप्रथम वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में योग विद्या का उल्लेख प्राप्त होता है। योग ने युगों–युगों से हर काल में लोगों की आवश्यकताओं से जुड़कर अपने नाम को सार्थक किया है। *याज्ञवल्क्य स्मृति* में उल्लेख मिलता है कि "**हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातनः**" अर्थात् हिरण्यगर्भ ही योग के प्रथम वक्ता है इनसे पुरातन कोई नहीं है[6]। महाभारत में भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है[7]। भारत की

---

1. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र 1/3
2. समत्वं योग उच्चयते 2/48
3. योगः कर्मसु कौशलम्। गीता 2/50
4. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
   मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। 1:41
5. प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च। चरक सूत्र 30/66
6. याज्ञवल्क्य स्मृति 12/25
7. सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्यते।
   हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।। महाभारत 2/394/66

प्राचीन सिन्धु घाटी सभ्यता (2600–1900 ईसा पूर्व) में योग विद्या के प्रचलित होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। सर जॉन मार्शन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मोहन–जोदड़ो में जिस नरदेवता की मूर्ति प्राप्त हुई है वह त्रिमुखी है। वह देवता एक कम ऊँचे पीठासन पर योगमुद्रा में बैठा हुआ है, उसके दोनों पैर इस प्रकार मुड़े हुए हैं। कि एड़ी से एड़ी मिल रही है, अंगुठे नीचे की ओर मुड़े हुए हैं एवं हाथ घुटने के ऊपर आगे की ओर फैले हुए हैं[1]। इस प्रकार आकृति पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि यौगिक विचारधारा का प्रचलन इस सभ्यता में रहा होगा।

भारतीय ज्ञान–विज्ञान के इतिहास में आयुर्वेद की गौरवमयी परम्परा है। ऋषि, महर्षियों ने इसे अति पुरातन और शाश्वत कहा है। सुश्रुत के अनुसार, ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही इसकी रचना की। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव माना है। आयुर्वेद की उत्पत्ति भी वेदों से ही मानी गयी है। ऋग्वेद में भी कुछ औषधियों का वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का अंग माना गया है। चरक संहिता में कहा गया है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण आयुर्वेद का उपदेश ब्रह्मा जी ने किया था, उसको उसी रूप में सर्वप्रथम दक्ष प्रजापति ने ग्रहण किया। इसके पश्चात् दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने, अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने और इन्द्र से ऋषियों के कहने पर भरद्वाज मुनि ने सम्पूर्ण आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया[2]। तब से भरद्वाज मुनि के द्वारा अन्य ऋषियों–मुनियों को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ। आयुर्वेद का ज्ञान वर्तमान में फिर से प्रासंगिक हो चला है।

योग एवं आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य–

आयुर्वेद स्वास्थ्य को समग्र रूप से परिभाषित करता है। एकांगी स्वास्थ्य चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, वहाँ प्रश्रय नहीं दिया गया है। आयुर्वेद के महान् ऋषि सुश्रुत ने सम्पूर्ण स्वास्थ्य की परिकल्पना की है। सुश्रुत द्वारा दी गई स्वास्थ्य की परिभाषा को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी स्वीकार कर लिया है। सुश्रुत द्वारा दी गई परिभाषा निम्न है–जिस पुरुष के दोष, धातु, मल तथा अग्नि साम्यावस्था में कार्य कर रहे हों एवं जिसकी इंद्रियाँ, मन तथा आत्मा प्रसन्न हों, वही व्यक्ति स्वस्थ है[3]। इस

1. Marshal, J.H. (1931) Mohenjo-Daro and the Indus Civilization. London: Arthur Probsthain, 25-33p
2. ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
   जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः।। चरक संहिता 1/4
   अश्विभ्यां भगवांछक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्।
   ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्।। चरक संहिता 1/5
3. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियाः।
   प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सुश्रुत संहिता 15:41

प्रकार आयुर्वेद में समग्र स्वास्थ्य की परिकल्पना की गई है। योग भी मनुष्य को समग्र स्वास्थ्य की ओर अग्रसर करता है। "योग में शरीर और मन को समस्त प्रकार के उद्दीपनों से रहित कर समाधि अवस्था में ले जाने का प्रयास किया जाता है"[1]। योग में हम क्रमशः स्वास्थ्य को प्राप्त करते हैं। षट्कर्म और आसन–प्राणायाम द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। यम–नियम द्वारा सामाजिक स्वास्थ्य, प्रत्याहार–धारणा द्वारा मन को एवं ध्यान तथा समाधि के द्वारा आत्म स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है तथा इसी अवस्था में मनुष्य साम्यावस्था को प्राप्त होता है। समाधि अवस्था ही मनुष्य को स्वयं के वास्तविक स्वरूप से परिचय कराती है।

वैश्विक परिदृश्य में योग एवं आयुर्वेद–

वर्तमान 21वीं सदी की शुरूआत योग की क्रांति से हुई तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। योग भारतीय विद्याओं की मूलभूत विद्या है। सभी दर्शन, धर्मों के सार इस विद्या में समाहित हैं। योग सभी धर्मो में किसी न किसी रूप से विद्यमान है। योग के अंग ध्यान को सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। सभी धर्मों में आखें बन्द कर उस परमात्मा को याद करने, प्रार्थना करने का विधान समाहित है। वैश्विक परिदृश्य में देखा जाए तो प्रायः सभी देशों में योग के अनुयायी उपस्थित हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 21 जून, 2015 को अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के रूप में मनाने की घोषणा की जिसको विश्व के 177 देशों ने सर्वसम्मति से पास किया है[2]। युनेस्को ने भी योग को विश्व सांस्कृतिक धरोहर के रूप में अपनी मान्यता प्रदान की है[3]। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में योग की स्वीकार्यता दिनों दिन बढ़ती जा रही है। योग का स्वास्थ्य पर प्रभाव समग्र रूप से पड़ता है। योग के प्रभावों के कारण ही विश्व के सभी देशों में योग तेजी से प्रचलित हो रहा है।

आयुर्वेद की स्वीकार्यता भारतवर्ष में ही नहीं अपितु वैश्विक स्तर पर भी इसको एक चिकित्सा के रूप में अंगीकार किया गया है। प्राचीन काल से ही आयुर्वेद एक समृद्ध चिकित्सा शास्त्र रहा है। आयुर्वेद सुदूर हिंद एशिया, चीन, मध्य एशिया, मंगोलिया आदि के छात्र जब नालंदा से लौटते थे तो भारतीय आयुर्वेद का ज्ञान भी अपने साथ ले जाते थे। तिब्बती चिकित्सा का मूल आधार आयुर्वेद ही है। श्रीलंका में आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति होने का गौरव प्राप्त है। इरान और

---

1. कुवलयानन्द एवं विणेकर (1971) *यौगिक चिकित्सा,* केन्द्रीय स्वास्थ्य शिक्षा ब्यूरो, नई दिल्ली
2. UNO (2014) International Yoga Day, resolution 69/131
3. UNESCO (2016) Intangible Cultural Heritage of Humanity, 11.com

अरब में भी आयुर्वेद के प्रचार–प्रसार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। ग्रीक और रोमन लोगों ने शल्य क्रिया की विधि भारत के आयुर्वेद से ही सीखी है[1]। आयुर्वेद की प्रभाव–शीलता एवं रोग निवारक क्षमता को देखकर सभी आश्चर्यचकित हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी आदि देशों में आयुर्वेद चिकित्सा–पद्धति को बड़ी तेजी से अपनाया जा रहा है। प्राकृतिक उपायों से रोग के उपचार का चलन तेजी से विकसित हो रहा है।

योग एवं आयुर्वेद का सम्बन्ध–

योग एवं आयुर्वेद का परस्पर गहन सम्बन्ध है। आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि योग आयुर्वेद का ही अंग है। जबकि योगवेत्ता मानते हैं कि आयुर्वेद योग की प्राप्ति के साधन के रूप में विकसित हुआ है। आयुर्वेद स्वास्थ्य की प्राप्ति का एक समग्र विज्ञान है। वहीं योग चेतना के समग्र विकास का विज्ञान है। शरीर ही समस्त ज्ञान प्राप्ति का आधार बनता है। अतः आयुर्वेद शरीर के स्वास्थ्य के लिए कार्य करता है, वहीं योग शरीर, मन से कहीं आगे चेतना के विकास की ओर ले जाता है। दोनों की उपयोगिता जीवन में हमेशा बनी रहती है।

मोक्ष की प्राप्ति भारतीय विद्याओं के चिंतन का केन्द्र बिन्दु रहा है। आयुर्वेद एवं योग दोनों ने ही इसे अपना लक्ष्य माना है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति के लिए आयुर्वेद ने आरोग्य को मूल माना है[2]। मोक्ष अथवा कैवल्य की प्राप्ति के लिए योग की साधना एवं पद्धतियों का प्रचलन है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता एवं अन्य ग्रन्थों में शरीर के शोधन के लिए पंचकर्म का वर्णन किया गया है। पंचकर्म में वमन, विरेचन, स्वेदन, नस्य आदि पद्धतियों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार हठयोग में षट्कर्मों का वर्णन प्राप्त होता है। जिसका उद्देश्य भी शरीर का शोधन है। अतः हम कह सकते हैं कि शरीर के शोधन के सिद्धान्त को आयुर्वेद एवं योग दोनों ने स्वीकार किया है। हठयोग में वात, पित्त और कफ के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। षट्कर्मों द्वारा त्रिदोषों की विषमता को दूर किया जाता है। वात, पित्त एवं कफादि विकारों को दूर करने के लिए प्राणायाम का वर्णन किया है[3]।

योग एवं आयुर्वेद दोनों की शिक्षण पद्धति एक समान है। दोनों में औषधि, मंत्रजप का वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद के आठ अंग माने जाते हैं। महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगसूत्र में आठ अंगों वाले अष्टांग योग की रचना की है। महर्षि

1. प्रभाकर लवकरे (2014) *विज्ञान और भारत*, नेशनल बुक ट्रस्ट आफ इण्डिया, पृ.स. 40
2. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। च.सू. 1:15
3. वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्। हठप्रदीपिका, द्वितीय उपदेश 64

पतंजलि ने अष्टांग योग में यम–नियम का वर्णन किया है। जो आयुर्वेद के स्वस्थवृत्त, आचार रसायन, दिनचर्या, ऋतुचर्या के माध्यम से वर्णित किया है।

योग एवं आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा पद्धति का समन्वय : आज की आवश्यकता-

योग एवं आयुर्वेद समग्र स्वास्थ्य प्राप्ति का विज्ञान है। वर्तमान में योग एवं आयुर्वेद पर देश ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के लोग अपना भरोसा व्यक्त कर रहे हैं। आधुनिक चिकित्सा–पद्धति के दुष्प्रभावों से पीड़ित एवं अपने रोगों से हार थक कर योग एवं आयुर्वेद की शरण में आते हैं। जब योग एवं आयुर्वेद की शरण में आते हैं तब तक व्यक्ति की जीवनी शक्ति क्षीण हो चुकी होती है। फिर भी योग एवं आयुर्वेद द्वारा चिकित्सा लेने से स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिणाम देखने को प्राप्त होते हैं। यहां किसी चिकित्सा पद्धति का महिमा मण्डन नहीं किया जा रहा है। हम व्यक्ति के स्वास्थ्य को बनाये रखने की विचारधारा को आगे रखकर अपनी बात कर रहे हैं।

वर्तमान में एलोपैथी सर्वमान्य प्रमुख चिकित्सा पद्धति के रूप में स्थापित है। एलोपैथी के दुष्प्रभाव होने के बाद भी इसके तात्कालिक लाभ पहुंचाने का गुण सभी को प्रिय लगता है। लेकिन योग एवं आयुर्वेद इसके उलट है, वह किसी रोग को तात्कालिक रूप से ठीक नहीं करता परन्तु जड़ से समाप्त कर देता है। एलोपैथी के विकास में तकनीकी का योगदान महत्वपूर्ण है। बायोमेडिकल इन्जिनियरिंग के कारण एलोपैथी आगे बढ़ने में अग्रणी रही है।

आज योग एवं आयुर्वेद को आधुनिक तकनीकी के साथ विकसित करने की आवश्यकता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे वर्णन प्राप्त हैं जिनसे हम आसानी से समझ सकते हैं कि उस समय आयुर्वेद तकनीकी ज्ञान से सुसज्जित था। ऋग्वेद में वर्णन आता है कि युद्ध में भाग लेते समय विष्पला नामक महिला का एक पैर कट गया। अश्विनी कुमारों ने कटे हुए पैर की जगह लोहे का पैर लगा दिया[1]। आयुर्वेद के विख्यात ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में 300 से अधिक भिन्न–भिन्न प्रकार की शल्य–क्रियाओं का वर्णन किया गया है। वहीं शल्य क्रिया में प्रयुक्त उपकरणों जो कि 120 से भी अधिक हैं, का प्रयोग किया जाता था। भारतवर्ष की गुलामी के कारण एवं मुस्लिम शासकों के आयुर्वेद के प्रति उपेक्षा के भाव ने हमें आयुर्वेद के विकसित हुए स्वरूप से दूर कर दिया। आज हमारे पास कहने के लिए सिद्धान्त तो मौजूद हैं परन्तु उनके व्यवहारिक उपयोग की कड़ियां हमसे कहीं दूर हो गई हैं। आज फिर से योग एवं

1. सद्यो जङ्घां आयसीं विश्पलायै.......प्रत्यधत्तम्। (ऋ. 1/116/15)

आयुर्वेद के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर वैज्ञानिक शोध-अनुसंधान किये जाने की आवश्यकता है। योग एवं आयुर्वेद को आज की आधुनिक नैदानिक तकनीकों से जोड़ने की आवश्यकता है।

योग और आयुर्वेद आज भी उतने ही प्रभावी हैं-

आज के आधुनिक कहे जाने वाले युग में जब सब कुछ आधुनिकता से सुसज्जित है। इस दौर में योग आयुर्वेद उतने ही उपयोगी हैं जितने कि प्राचीन समय में। आज जब डेंगू, चिकिनगुनिया, इबोला, बर्ड फ्लू जैसे वायरसों से मौते हो रही है, तो आधुनिक कही जाने वाली चिकित्सा प्रणाली के पास इनके उपचार का कोई कारगर उपाय नहीं है। इन्हीं रोगों में आयुर्वेद की औषधियां जीवनदायक सिद्ध हो रही हैं। योग के विभिन्न अभ्यास व्यक्तियों में जीवनी शक्ति का विकास कर रहे हैं। अतः सदियों पुरानी औषधियां आज भी अपना कार्य कर रही हैं। वहीं आधुनिक चिकित्सा पद्धति की खोजी गयी दवायें कुछ ही वर्षों में निष्प्रभावी होती देखी गयी हैं।

वर्तमान युग योग एवं आयुर्वेद का युग-

वर्तमान समय में अधिक खर्चीली होती जा रही स्वास्थ्य सेवायें प्राप्त करना हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। आज लाखों रुपये सुपर स्पैशियलिटी हास्पीटल में भर्ती होने से पहले जमा करा लिये जाते हैं। आम आदमी के पास इतनी रकम नहीं होती है, उनका इलाज करना किसी प्रकार से संभव ही नहीं है। NSSO की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत देश में 70 प्रतिशत से अधिक लोग निजी क्षेत्र (निजी डॉ., निजी नर्सिंग होम, प्राइवेट हास्पीटल आदि) में इलाज कराते हैं। अस्पताल में भर्ती ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों को मिलाकर लगभग 40 प्रतिशत व्यक्तियों ने इलाज के खर्चे को वहन करने के लिए किसी से उधार लिया या अपनी सम्पत्ति बेच दी[1]। 35 प्रतिशत से अधिक अस्पताल में भर्ती व्यक्ति अपने इलाज का खर्च वहन करते करते गरीबी रेखा से नीचे पहुंच गए हैं। भारत जैसे देश में स्वास्थ्य सेवाओं का व्यय आय से 87 प्रतिशत अधिक है[2]। आम-आदमी से दूर होती जा रही चिकित्सा सुविधायें चिंता का विषय बन गयी हैं। योग एवं आयुर्वेद आधारित चिकित्सा महंगी होती जा रही एलोपैथी चिकित्सा का विकल्प हो सकती है। योग चिकित्सा जिसमें किसी भी प्रकार का खर्चा नहीं है। जो जीरो बजट में भी स्वास्थ्य को संवार सकती है। वहीं आयुर्वेद आधारित जीवन पद्धति एवं दवायें जो कि हमारे आस-पास उगने वाली जड़ी-बूटियों से निर्मित होती हैं, का उपयोग करके स्वास्थ्यलाभ अर्जित कर सकते

1. NSSO (2014) Health in India, NSS-71st Round Report.
2. निशा भारती (2013) *अहा जिंदगी*, सम्पूर्ण स्वास्थ्य महाविशेषांक, दैनिक भास्कर, जयपुर

हैं। योग एवं आयुर्वेद को जीवन शैली में फिर से समाहित करने की आवश्यकता है।

यह सर्वविदित है कि एलोपैथी की दवायें हमारे रोग को दबा देती हैं। परिणाम स्वरूप दवा का असर समाप्त होने पर रोग के जीवाणु और तीव्रता से आक्रमण कर देते हैं। जो एण्टीबायोटिक दवा हम लेते हैं उसके विरुद्ध जीवाणु एन्जाएम बनाते हैं। यह एन्जायम एंटीबायोटिक के प्रभाव को कम कर देते हैं। इसी प्रकार सभी जीवाणु मिलकर इस दवा के प्रयोग के अनुपात में इसकी प्रतिरोधी क्षमता में वृद्धि करते हैं। दवा के प्रयोग के अनुपात में इनकी प्रतिरोधी क्षमता में भी वृद्धि हो जाती है। एक जीवाणु कई प्रकार की एण्टीबायोटिक दवा के विरुद्ध अपना प्रतिरोध करने लग जाता है। चिकित्सकों के अनुसार कुछ जीवाणु इतनी प्रतिरोधक क्षमता अर्जित कर लेते हैं कि उन पर किसी दवा का कोई असर नहीं होता है। और इस प्रकार बेअसर हुई एण्टीबायोटिक दवायें अपना दुष्प्रभाव शरीर पर छोड़ने लगती हैं। ***अल्प समय में किसी रोग में आराम पाने के लिए एलोपैथी का सहारा लिया जाना चाहिए लेकिन साथ ही रोग से सम्पूर्ण रूप से मुक्ति के लिए योग एवं आयुर्वेद को अपनाया जाना चाहिए।***

योग एवं आयुर्वेद का मिश्रित उपचार किसी कुशल मार्गदर्शक के संरक्षण में किया जाये तो वास्तव में किसी एलोपैथिक दवाओं की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। आज का आधुनिक चिकित्सा विज्ञान तात्कालिक राहत तो देता है परन्तु स्थायी समाधान नहीं दे पाता है। ऐसा कदापि न सोचा जाए कि योग एवं आयुर्वेद धीरे–धीरे लाभ पहुंचाते हैं। योग एवं आयुर्वेद भी उतनी ही तेजी से कार्य करते हैं जिस प्रकार आज की आधुनिक चिकित्सा पद्धती करती है। स्थायी उपचार धैर्यपूर्वक अपनाई गई आयुर्वेद एवं योग की चिकित्सा पद्धति से ही सम्भव है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आयुर्वेद एवं योग को आधुनिक चिकित्सा–नुसंधानों से जोड़ा जाये तो आश्चर्यजनक परिणाम प्रस्तुत होंगे साथ ही बीमारियों, रोगों से स्थायी समाधान के लिए मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। आज जिस तरह से योग एवं आयुर्वेद फिर से दुनिया के सामने विकल्प के तौर पर उभरें हैं वह दिन दूर नहीं है जब सम्पूर्ण चिकित्सा–पद्धति के रूप में स्थापित हो जायेंगे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 21वीं सदी योग एवं आयुर्वेद की सदी बनने जा रही है।

✦✦✦

यम-नियम एवं भावना चतुष्टय का सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में महत्त्व

—डॉ. बबीता शर्मा
एसिस्टेंट प्रोफेसर

—मीरा त्यागी
शोधच्छात्रा
दर्शनशास्त्र विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

योग दर्शनकार यमों के पाँच भेद करते हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[1] योग साधना के अंग के साथ-साथ व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन के लिए भी यम अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। अहिंसा को सभी यमों का आधार स्वीकार किया गया है व्यास जी का मानना है कि शेष यम व नियम अहिंसा की सिद्धि के लिए होते हैं।[2] मन वचन व कर्म से प्राणियों पर हिंसा न करना अर्थात् उन्हें कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है। किसी प्राणी के कल्याणार्थ उसे दुःख देना हिंसा नहीं है उदाहरण स्वरूप गुरु द्वारा शिष्य के कल्याण के लिए उसे दण्ड देना। अहिंसा के पालन से व्यक्ति में करुणा का भाव जागृत होता है तथा निष्कर्षतः उसे आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती है। करुणा का भाव रखने वाले महापुरुषों ईसा, गौतमबुद्ध आदि को करुणा से मिलने वाले आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता। जैन दर्शनकार साधना का मुख्य अंग अहिंसा को ही स्वीकार करते हैं। अहिंसा के पालन से व्यक्ति को सामाजिक व धार्मिक जीवन में ईर्ष्या-द्वेष की भावना से मुक्ति मिल जाती है। व्यक्ति में मित्रता की भावना जागृत हो जाती है। योगसूत्र में कहा गया है कि अहिंसा की सिद्धि होने पर सब प्राणियों के प्रति वैरभाव समाप्त हो जाता है

---

1. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।। योगसूत्र 2-30
2. यम नियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धि परत चैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते।। व्यासभाष्य, योगसूत्र 2-30

तथा प्रभावित क्षेत्र में अन्य प्राणियों का वैर भाव भी छूट जाता है।[1] उदाहरण स्वरूप सर्प व नेवले का वैर उसके प्रभाव से समाप्त हो जाता है। दूसरे प्राणियों के मन पर उसका इतना गहरा असर होता है कि उनमें करुणा की भावना आ जाती है।

सत्य का आचरण करने वालों पर व्यक्तियों का विश्वास बना रहता है। समाज व धर्म के क्षेत्र में लोगों के हृदय में उनके प्रति अटूट सम्मान बना रहता है। जैसे-राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य-पालन के द्वारा ही अमरता को प्राप्त किया। जो पदार्थ जैसा जाना जाता है सुना जाता है, उस पदार्थ के विषय मे वैसा ही व्यवहार करना सत्य है। उस वाणी में आचरण में किसी के प्रति धोखा या दूसरों का अहित नहीं होना चाहिए अपितु दूसरों का हित होना चाहिए। इसके विपरीत किसी को धोखा देना, दूसरों का अहित करना असत्य के अन्तर्गत आता है। महर्षि पंतजलि का मानना है कि मन, वचन व शरीर से सत्य-आचरण की सिद्धि होने पर योगी का कर्म श्रेष्ठ फल वाला हो जाता है। उसके अच्छे आचरण का प्रभाव समाज में अन्य प्राणियों पर भी अच्छा ही पड़ता है। उसके मुख से निकले हुए वचन सत्य ही होते हैं।[2] जो व्यक्ति अपने सामाजिक व धार्मिक जीवन में सत्य का आचरण नहीं करता उसके मन में भय, संकोच व आन्तरिक मलीनता बनी रहती है।

यम का तीसरा अंग अस्तेय है। जिसका तात्पर्य है चोरी न करना। मन, वचन व कर्म से किसी भी प्रकार की चोरी न करना ही अस्तेय है। अपने सामाजिक व धार्मिक जीवन में अस्तेय का पालन करने वाला व्यक्ति ठीक प्रकार से जीवन-यापन के लिए कोई न कोई मार्ग अवश्य ही अपना लेता है। किसी दूसरे व्यक्ति के पदार्थ को अवैध रूप से कभी नहीं लेना चाहिए और न इसका प्रयास करना चाहिए क्यों कि उसे अवैध रूप से लेना या लेने का विचार भी अस्तेय के अन्तर्गत आता है। योग दर्शनकार कहते हैं मन, वचन व कर्म द्वारा अस्तेय की सिद्धि प्राप्त होने पर अर्थात् अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को उत्तम पदार्थों (रत्नों) की प्राप्ति हो जाती है।[3] तात्पर्य यह है कि उत्तम पुरुषार्थ से उत्तम फलों की प्राप्ति होती है तथा ईश्वर द्वारा धन, बल व सुख प्राप्त होता है। चोरी करने वाला व्यक्ति समाजद्रोही व देशद्रोही कहलाता है। उसका व्यक्तिगत स्तर गिर जाता है। समाज व धर्म के क्षेत्र में ऐसा व्यक्ति अव्यवस्था का कारण बनता है।

यम का चौथा अंग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। मन, वचन व कर्म द्वारा कामवासना को पूर्ण रूप से त्याग देना ब्रह्मचर्य है।

---

1. अहिंसाप्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योगसूत्र - 2-35
2. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। योगसूत्र - 2-36
3. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। योगसूत्र - 2-37

ऐसा करने पर व्यक्ति के धैर्य व साहस में वृद्धि होती है तथा व्यक्ति धार्मिक उन्नति को प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा बल की वृद्धि होती है।[1] अर्थात् पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने पर व्यक्ति शारीरिक व मानसिक बल को प्राप्त करता है तथा बल द्वारा अन्य प्राणियों की रक्षा भी करता है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य भारतीय दर्शनों में ब्रह्मचर्य को विशेष महत्व दिया गया है। क्योंकि एक ब्रह्मचारी व्यक्ति अलौकिक गुणों से युक्त होने के कारण दूसरे व्यक्तियों के सामाजिक व धार्मिक जीवन में ज्ञानवृद्धि करने में अधिक समर्थ सिद्ध होता है एक ब्रह्मचारी ही उत्तम आचार्य होता है, उत्तम प्रजापति होता है वह समाज को उन्नति का मार्ग दिखाता है। वह सम्पूर्ण लोक में चमकता हुआ शक्तिशाली व ऐश्वर्यवान् होकर इन्द्र के समान सभी को वश में करने वाला होता है।[2] अथर्ववेद में कहा है कि ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवताओं ने मृत्यु तक को जीत लिया था।[3] स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि मनुष्य में विपुल ओजस् होने पर वह जन नेता हो जाता है। ओजस् का प्रबल आकर्षण मनुष्य को शक्ति देता है। नाडीय प्रवाह द्वारा ओजस् का निर्माण होता है। विचित्र बात यह है कि जिसकी अभिव्यक्ति यौन शक्ति द्वारा होती है। उसका निर्माण उसी शक्ति से बड़ी आसानी से हो जाता है।[4]

यम का पांचवा अंग अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का त्याग करना अपरिग्रह कहलाता है अर्थात विषय भोग से अधिक पदार्थों का संग्रह न करना अपरिग्रह है। व्यक्ति को धार्मिक जीवन में केवल उपयोगी वस्तुओं का ही सेवन करना चाहिए। संग्रह वासना या विलासिता के लिए न होकर एक अच्छे सामाजिक व धार्मिक जीवन जीने के लिए होना चाहिए। अपरिग्रह की सिद्दि होने पर भूत, भविष्य तथा वर्तमान जन्म से सम्बन्धित ज्ञान हो जाता है।[5] तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को जन्म सम्बन्धी ज्ञान कि वह कहाँ था, कौन था तथा आगे का जन्म कहाँ होगा, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अपरिग्रह का पालन व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। इसके पालन द्वारा व्यक्ति को सन्तुष्टि मिलती है। लोभी प्रवृत्ति छूट जाती है। इसका पालन किये बिना योग मार्ग पर आगे बढ़ना तक सम्भव नहीं है। परिग्रह के मार्ग पर व्यक्ति अत्याचारी बन जाता है। अपरिग्रह से व्यक्ति समाज में व्याप्त सभी बुराइयों से बच जाता है।

---

1. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगसूत्र – 2–38
2. आचार्य ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापति विराजति विराड् इन्द्रो भवद्वशी। अथर्ववेद – 11/70/16
3. ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाघ्नत। अथर्ववेद – 11/4/19
4. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ – 99
5. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासम्बोधः। योगसूत्र 2–39

अहिंसा का पालन व्यक्ति के जीवन में शान्ति स्थापित करता है। अहिंसा पालन से आज के समाज व धर्म के क्षेत्र में होने वाली कठिनाइयों जैसे हत्या आदि से जिससे व्यक्ति भयभीत रहते हैं, छुटकारा पाया जा सकता है। इससे व्यक्तियों में मित्रता की भावना में वृद्धि होती है। सत्य का पालन भी व्यक्ति को सामाजिक व धार्मिक बनाता है। आज समाज का नैतिक पतन व्यक्ति के झूठ बोलने से हो रहा है, व्यक्ति बिना कारण ही झूठ बोलते हैं। सत्य का पालन न करने से समाज में अन्ध विश्वास बढ़ता जा रहा है। अनेकों व्यक्ति धन के बल पर असत्य द्वारा कचहरियों में झूठे केस जीत जाते है। अतः व्यक्ति के चारित्रिक विकास के लिए तथा समाज कल्याण के लिए भी सत्य का पालन आवश्यक हो जाता है। तीसरा अंग अस्तेय है जिसका पालन न करने से व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन में अनेक समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं। व्यक्ति की चोरी-भावना में वृद्धि हो रही है। यदि व्यक्ति अस्तेय का पालन करेगा तो समाज में अन्य व्यक्तियों के सुख में वृद्धि तो करेगा ही साथ में अपना नैतिक विकास भी कर सकेगा।

ब्रह्मचर्य पालन के द्वारा भी व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन में सुख की वृद्धि होगी क्योंकि आज हमारे समाज में अनके समस्यायें जैसे बलात्कार, जनसंख्या-वृद्धि आदि दुःख का कारण बनी हुई हैं, उसे ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है, क्योंकि आज के समय में स्त्रियों के अन्दर एक डर बैठा हुआ है वो डर है बलात्कार जैसी घटनाओं का, यदि ब्रह्मचर्य का पालन पूर्ण रूप से किया जाये तो उस डर से मुक्ति मिल सकती है। आज धार्मिक स्थलों पर भी बलात्कार जैसी घटनाओं को अन्जाम देते हुए देखा गया है। व्यक्ति द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन ऐसी दुःखद घटनाओं से छुटकारा दिला सकता है।

अपरिग्रह व्यक्ति के नैतिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। आज समाज में ही नहीं धर्म के क्षेत्र में भी व्यक्ति एक दूसरे से विलासिता पूर्ण जीवन जीने के लिए लड़ते हैं, चीजें छीनते हैं, चोरी करते हैं, हत्यायें करते हैं। यदि अपरिग्रह का पालन किया जाये तो लूटपाट, रिश्वतखोरी, चोरबाजारी, दहेज जैसी सामाजिक समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। अपरिग्रह का मूल आधार अहिंसा को माना जाता है। अतः यम-नियमों का पालन व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन को सुखी बनाकर नैतिक उत्थान में वृद्धि कर सकता है।

नियम का व्यक्ति के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में महत्वः-

महर्षि पंतजलि नियम को अष्टांग योग के दूसरे अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। नियम के पाँच भेद हैं जो व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन को उच्च

शिखर पर पहुँचाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। नियम के पाँच प्रकार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्राणिधान हैं।[1]

शौच का तात्पर्य शुद्धि अर्थात् पवित्रता से है, जो जीवन के लिए आवश्यक है। शुद्धि दो प्रकार की होती है। बाह्य शुद्धि व आन्तरिक शुद्धि। शारीरिक व मानसिक विकास के लिए पवित्रता अर्थात् शुद्धि का होना जरूरी है। बाह्य शुद्धि में नहाना, पवित्र व पौष्टिक भोजन करना, स्वच्छ कपड़े पहनना, रहने के स्थान को शुद्ध करना इत्यादि आ जाते हैं। आन्तरिक शुद्धि के अन्तर्गत व्यक्ति के मानसिक क्लेश आते हैं जिन्हें साधना, भक्ति, योग आदि से शुद्ध करना आवश्यक है। बाह्य शुद्धि व आन्तरिक शुद्धि एक दूसरे को प्रभावित अवश्य करती है। अतः व्यक्ति के अपने सामाजिक व धार्मिक जीवन को उच्च बनाने के लिए दोनों शुद्धियों का पालन अवश्यक हो जाता है। शरीर को शुद्ध करने पर शरीर की अशुद्धि का ज्ञान हो जाता है। शरीर का कार्य अशुद्धि को फैलाना है। अतः व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि शरीर अशुद्धि अर्थात् मल-मूत्र इत्यादि का केन्द्र है। इस ज्ञान के पश्चात् उसे शरीर के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है इससे उसे अपने शरीर के प्रति तो राग की समाप्ति हो ही जाती है, अन्य के शरीर के प्रति उत्पन्न होने वाले मोह की भी समाप्ति हो जाती है। अतः उसकी स्वयं के व अन्य के शरीर के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है।

शौच में प्रतिष्ठित होने पर स्वयं के व दूसरों के शरीरों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है।[2] व्यक्ति को अन्य सिद्धियों की भी प्राप्ति हो जाती है जिससे व्यक्ति का धार्मिक जीवन प्रभावित होता है। शरीर को शुद्ध करने से, शुद्ध व पौष्टिक भोजन से, साफ व स्वच्छ वस्त्र धारण करने से व रहने के स्थान को शुद्ध रखने से व्यक्ति का शरीर रुग्ण नहीं होगा व शक्तिशाली भी बनेगा। शरीर के शक्तिशाली व रुग्ण न होने से व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध होगी जैसे कहा भी जाता है कि ''स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है''। बुद्धि में शुद्धता से व्यक्ति के विचार पवित्र होंगे, पवित्र विचार से व्यक्ति का सामाजिक जीवन सुखपूर्वक बीतेगा तथा दूसरी ओर शुद्ध बुद्धि से उसके मन को प्रसन्नता मिलेगी मन प्रसन्न होने पर व्यक्ति साधना के मार्ग पर चलकर अपने धार्मिक जीवन को भी उच्च सीमा पर ले जा सकता है। सत्व बुद्धि द्वारा इन्द्रियों को वश में कर लेने से ध्यान भौतिक या ऐन्द्रिक वासनाओं की ओर न जाकर अध्यात्म की ओर मुड़ जायेगा, जिससे आत्मसाक्षात्कार की योग्यता

1. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगसूत्र 2-32
2. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। योगसूत्र 2-40

प्राप्त होगी।[1] इन शक्तियों की प्राप्ति शौच या शुद्धता में पूर्ण सिद्धि तथा स्थिरता की प्राप्ति के पश्चात् ही प्राप्त की जा सकती है। शरीर की अशुद्धि पर शरीर रुग्ण हो जायेगा, बुद्धि भी अशुद्ध हो जायेगी। न एकाग्रता की प्राप्ति होगी तथा मन भी अप्रसन्न होगा, दु:खी मन से सामाजिक व धार्मिक जीवन को सुखमय नहीं बनाया जा सकता। शुद्धता की महत्ता का वर्णन तो यजुर्वेद में भी द्रष्टव्य है। ''हे उत्पन्न हुए जनों में ज्ञानी विद्वान्! जिस तरह से विद्वान जन विज्ञान और प्रीति से मुझको पवित्र करें, हमारी बुद्धियों को पवित्र करें।[2] अत: शौच अर्थात् पवित्रता व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन का एक आवश्यक अंग है।

सामर्थ्यानुसार कर्म करके प्राप्त फल में सुखी रहना अधिक की इच्छा से कष्ट में न रहना ही सन्तोष है। महर्षि पतंजलि सन्तोष के पालन से होने वाली उसकी महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सन्तोष का पालन करने से व्यक्ति सन्तुष्ट रहता है तथा सभी सांसारिक (भौतिक) सुखों से उत्तम (दिव्य) सुखों को प्राप्त करता है।[3] मनु ने संतोष के व्यक्तिगत महत्व को बताते हुए कहा है कि सुख की इच्छा करने वाले को परम संतोषी व संयमी होना चाहिए क्योंकि सन्तोष सुख का मूल है और दु:ख का मूल असन्तोष है।[4] व्यक्ति को समाज मे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए संतोष का पालन अवश्य करना होगा। व्यास जी संतोष से प्राप्त दिव्य सुख की तुलना ऐन्द्रिक या भौतिक सुख से करते हैं तथा कहते हैं कि लोक में काम जन्य सुख व महान् स्वर्ग सुख तृष्णा के क्षय (सन्तोष) से प्राप्त होने वाले सुख का सोलहवाँ भाग भी नहीं हो सकते।[5] स्पष्ट शब्दों में कहे तो कर्म करते रहने पर कर्मफल की तृष्णा को त्याग देने पर ही दिव्य सुख (आत्मसुख) को प्राप्त करना सम्भव है। संतोष के पालन से सांसारिक कष्टों से मुक्ति मिलती है। निष्काम कर्म व्यक्ति को संसार चक्र से मुक्ति दिलाते हैं ये भी संतोष के बिना नहीं हो सकते। अत: समाज में या धर्म क्षेत्र में सुखमय जीवन जीने के लिए संतोष का पालन जरूरी है। इससे व्यक्ति समाज में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त कर सकता है।

---

1. सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। योगसूत्र 2-41
2. पुनन्तु मा देवजना: पुनन्तु मनसा धिय:। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेद: पुनीहि मा।। यजुर्वेद- 19-39
3. सन्तोषादनुत्तम: सुखलाभ:। योगसूत्र 2-42
4. सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। सन्तोषं मूलं हि सुखं दु:खमूलं विपर्यय:।। मनुस्मृति 4/12
5. यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णा क्षयसुखस्यैते नार्हत: षोडशीं कलाम्।। व्यासभाष्य योगसूत्र 2-42

तप भी व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करने में महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। शरीर को कष्ट देना, भूखे व प्यासे रहना इत्यादि तप की श्रेणी में नहीं आते। व्यक्ति के जीवन में आने वाली मुश्किलों का सामना करते हुए सच्चाई के मार्ग पर चलना तप है। तप के विषय में भाष्यकार व्यास कहते हैं कि द्वन्द्वों को सहना, भूख-प्यास, शीतोष्ण, खड़ा होना, बैठना, लकड़ी की भाँति मौन रहना, मुँह से कुछ न कहना तथा अनुकूलता के अनुसार कृच्छ, चान्द्रायण, सान्तपनादि व्रतों को करना तप कहलाते हैं।[1]

तप में प्रतिष्ठित हो जाने पर व्यक्ति के वात, पित्त, कफ की विषमता से जिन विकारों की उत्पत्ति होती है तथा तमोगुण से आलस्यादि दोषों की उत्पत्ति होती है। उनका नाश हो जाता है तथा शरीर स्वस्थ शक्तिवान् स्वच्छ तथा स्फूर्तिमान् बन जाता है इन्द्रियों को विषयों को देखने व सुनने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।[2] जिस प्रकार सोने को तपाने से शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार तप का पालन करने से व्यक्ति शुद्ध व पवित्र बन जाता है। क्योंकि तप से अशुद्धियों का नाश हो जाता है तथा तन-मन स्वच्छ व स्वस्थ हो जाते हैं। लौकिक व पारलौकिक सुख के लिए तप का पालन आवश्यक है।

व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन में अध्ययन का एक विशेष महत्व है। महर्षि पंतजलि क्रियात्मक योग साधना में स्वाध्याय को विशेष स्थान प्रदान करते हैं। जिसका तात्पर्य है मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव (ओ३म्) का जप करना।[3] शास्त्रों के अध्ययन से तथा ईश्वर जप करने से इष्ट देवताओं का साक्षात्कार होता है।[4] बिना शास्त्रों के अध्ययन द्वारा ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्वास्थ्य से वैचारिक शुद्धि होती है और विचारों की शुद्धि का व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन में बड़ा ही उत्कृष्ट स्थान है। विचारों की पवित्रता व्यक्ति को समाज व धर्म क्षेत्र में तो मान-सम्मान दिलाती ही है। साथ ही उसके लिए पारलौकिक जीवन में भी कल्याणकारिणी होती है। इससे विदित होता है कि स्वाध्याय का व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन में अत्यन्त महत्व है।

व्यक्ति के जीवन में ईश्वर प्रणिधान का भी विशेष महत्व है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है उसकी विशेष भक्ति उसके नाम का जप और उसके अर्थ की भावना

---

1. तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छचान्द्रायणसान्तपनादीनि।। व्यासभाष्य योगसूत्र 2-32
2. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योगसूत्र - 2-43
3. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। व्यासभाष्य, योगसूत्र 2-32
4. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। योगसूत्र 2-44

करना। पंतजलि भी योगसूत्र में ईश्वर प्रणिधान का यही अर्थ बताते हैं।[1] इससे व्यक्ति धार्मिक जीवन व्यतीत करता हुआ पारलौकिक सुख को प्राप्त करता है। इसमें व्यक्ति अपना सब कुछ यहाँ तक कि कर्म व कर्मफलों को भी ईश्वर को अर्पित कर देता है। उसके जीवन में आस्तिकता का उदय होता है और अहंकार दूर हो जाता है। आस्तिक और निरअंहकारी व्यक्ति के जीवन में सद्गुणों का प्रवेश होता है और दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं। सद्गुणी व्यक्ति को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। अतः ईश्वरप्राणिधान व्यक्ति को समाज व धर्म दोनों ही क्षेत्रों में सुखमय जीवन जीनें का सुअवसर प्रदान करता है। महर्षि पंतजलि तो ईश्वरप्राणिधान द्वारा समाधि की शीघ्र प्राप्ति बताते हैं।[2]

अतः हम पूर्ण रूप से कह सकते हैं कि यम-नियमों का पालन व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत कराके अन्त में दुर्लभ मोक्ष प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है तथा धर्म के क्षेत्र व समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में भी सहायता करता है।

भावना चतुष्टय का व्यक्ति के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में महत्व :-

मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा को भावना चतुष्ट्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यम व नियम की तरह भावना चतुष्ट्य का भी व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा व्यक्ति के सामाजिक व धार्मिक जीवन को प्रभावित करती हैं। महर्षि पंतजलि कहते हैं कि चित्त की प्रसन्नता के लिए सुखी लोगों के प्रति मित्रता का भाव, दुखियों के प्रति दया का भाव, पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष की भावना, पापियों के प्रति उदासीन भाव आवश्यक है।[3]

सुखी मनुष्यों को देखकर उन पर मित्रता की भावना करने से राग तथा ईर्ष्या की निवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा समझने से कि यह सब सुख मेरे मित्र को है तो मुझे भी है, तब जैसे अपने राज्य के न होने पर भी अपने पुत्र के राज्य लाभ को अपना जानकर उसे राज्य में ईर्ष्या तथा राग की निवृत्ति हो जाती है। वैसे ही मित्र के सुख को भी अपना सुख मानकर उसमें राग-निवृत्ति हो जायेगी तथा जब उसके सुख को अपना ही सुख समझेगा तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चित्त में जलन न होने से ईर्ष्या भी निवृत्त हो जायेगी।

1. तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगसूत्र - 1/28
2. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र - 2/45
3. मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।।
   योगसूत्र- 1/33

दु:खी जनों पर करुणा अर्थात् दया की भावना से घृणा रूपी मल का अभाव होता है। किसी दु:खी पुरुष को देखकर उसके प्रति इस प्रकार की भावना रखें जैसे हमे प्राण परम प्रिय हैं, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी प्राण प्रिय हैं। पुण्यात्मा जो धर्म मार्ग पर प्रवृत्त है, उन पुण्यशील पुरुषों के प्रति हर्ष की भावना से असूयामल की निवृत्ति होती है।

जो मनुष्य पाप के मार्ग पर प्रवृत्त है, उनमें उपेक्षा की भावना करने से द्वेष तथा आकर्षण या घृणा रूपी मल की निवृत्ति हो जाती है।

यम व नियम की तरह भावना चतुष्टय के पालन द्वारा भी व्यक्ति के जीवन में सत्वगुणों का विकास होता है। व्यक्ति को विवेक द्वारा सत्वगुण की वृत्तियों को बढ़ाना चाहिए। सत्वगुण के लक्षण है–वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञानवृद्धि, इन्द्रिय निग्रह, धर्मक्रिया करना।[1] यम, नियम व भावना चतुष्ट्य के माध्यम से सत्त्व गुणों की वृत्तियों को बढ़ाया जा सकता है। गुण दो प्रकार के होते है–सद्गुण व दुर्गुण। सद्गुणों का फल सुख व दुर्गुणों का फल दु:ख होता है। सद्गुणों से सुविचारों की उत्पत्ति होती है। सुविचारों के प्रभाव से इन्द्रियों के द्वारा सुकर्मो में प्रवृत्ति होती है। इससे शरीर शुभ कर्मो में लगता है। दुर्गुणों से दुर्विचारों की उत्पत्ति होती है तथा शरीर अशुभ कर्मो में लगता है जिससे मनुष्य दु:ख का भागी बनता है। अत: यम–नियम व भावना चतुष्ट्य के पालन से व्यक्ति में सद्गुणों का विकास तो होगा ही साथ में आज के समय में समाज व धर्म के क्षेत्र में पनपने वाली समस्याओं जैसे–दहेज, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, जनसंख्या–विस्फोट, पर्यावरण प्रदूषण, रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, बलात्कार, धार्मिक उन्माद इत्यादि समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। जब ये समस्यायें समाप्त हो जायेगीं तो व्यक्ति का सामाजिक व धार्मिक जीवन सुखमय बन जायेगा तथा एक सुन्दर समाज, सुन्दर राष्ट्र का निर्माण होगा।

✦✦✦

1. वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रह:। धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम्।। मनुस्मृति 12/31

विश्व शान्ति में योग की भूमिका

डॉ. योगेश्वर दत्त

योग विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

यह समस्त जगत् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के तापों से अहर्निश सन्तप्त हो रहा है। इन दु:खों से सन्तप्त होकर विचारशील मनुष्य भौतिक उपायों से निराश होकर शास्त्रीय उपायों की ओर अग्रसर होता है। क्योंकि लौकिक उपायों से दु:खों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति नहीं, यह बात ईश्वर कृष्ण ने कही है।[1] यदि लौकिक उपायों से दु:खों की निवृत्ति हो जाया करती तो मनुष्य तत्त्वज्ञान की ओर अग्रसर न होता। महर्षि पतंजलि और महर्षि कपिल ने त्रिविध क्लेशों से पीड़ित विश्व के मानवों के लिए क्रमश: योगशास्त्र और सांख्य शास्त्र का उपदेश किया है।

महर्षि कपिल और महर्षि पतंजलि के समय में योग साधना की जितनी आवश्यकता थी, उससे कहीं अधिक आवश्यकता आज के युग में है। आज के संसार में जितनी समस्याएँ मानव के समक्ष उपस्थित हो गईं, उतनी पहले कभी नहीं थीं। आज का मानव पहले से कहीं अधिक लोभी, मोही, कामी, क्रोधी और अहंकारी हो गया है। अपनी आजीविका और प्रगति के लिए उसने हिंसा का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया है। केवल पशु-पक्षी और वन्य प्राणी ही नहीं अपितु मनुष्य ही मनुष्य का शत्रु हो गया। प्रत्येक देश ने सुरक्षा के नाम पर भयानक आणविक अस्त्र बना लिये हैं, जिस दिन इन अस्त्रों का प्रयोग होगा, उस दिन मानव सभ्यता का अस्तित्व सन्देह में पड़ जायेगा।

आज राजनीति में असत्य और अन्याय इस तरह प्रविष्ट हो गया है कि राजनीति छल और कपट का पर्याय बन गई हैं। राजनीति के प्रभाव ने आज साधारण जन को भी अपने लपेट में ले लिया है। हिंसा और असत्य समाज में अन्दर तक प्रविष्ट हो चुके हैं। चोरी, डाका और राहजनी, आज साधारण बातें हो गई हैं। ब्रह्मचर्य के महत्त्व को तो सर्वथा भुला दिया गया है। परिग्रह की तो यह दशा है कि मनुष्य

---

1. दु:खत्रयाभिघातात्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
   दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।। सांख्यकारिका-1

ने आज की चिन्ता छोड़कर आगामी वर्षों के लिए उतना अधिक संग्रह कर लिया है कि समाज में खाने-पीने की वस्तुओं का अभाव हो गया है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक समाज, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक धर्म आज अशान्त दिखाई देता है। मानसिक शान्ति जैसे कहीं खो गई है।

आज का मानव इन विविध दु:खों से मुक्ति करना तो चाहता है, किन्तु भौतिक प्रगति की अन्धी दौड़ में उसे कोई उचित मार्ग नहीं सूझ रहा है। हमारी दृष्टि में इन दु:खों से मुक्त होने का एक ही मार्ग है- महर्षि पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट योग मार्ग। महर्षि पतंजलि ने जिन यम और नियमों का उल्लेख किया है वे तत्व मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के लिए ही नहीं अपितु विश्व शान्ति के लिये भी अनिवार्य हैं।

विश्व शान्ति के यौगिक उपाय

महर्षि पतंजलि की मान्यता थी कि जिस देश का समाज और प्रशासन सुव्यवस्थित और शान्त गति से चलने वाला होता है, उसी देश में आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। योग साधना का अभ्यास अशान्त और असुरक्षित राष्ट्र में नहीं हो सकता इसलिये उन्होंने केवल एक समाज अथवा एक राष्ट्र के लिये ही नहीं अपितु समस्त संसार की शान्ति और समृद्धि के लिये कुछ यौगिक उपाय योगसूत्र में निर्दिष्ट किये हैं। संक्षेप में उन पर कुछ प्रकाश डालना यहाँ प्रासंगिक होगा।

एक तत्त्व का अभ्यास

महर्षि पतंजलि ने विक्षेपों का निवारण करने के लिए एक तत्त्व के अभ्यास का उपदेश किया है- 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:।।'[1] अर्थात् उक्त योगान्तरायों के निराकरण के लिए साधक को ईश्वर रूप एक तत्त्व में चित्त का पुन: पुन: प्रविष्ट करने का अभ्यास करना चाहिए। एक तत्त्वाभ्यास का अर्थ है ईश्वर प्रणिधान। ईश्वर प्रणिधान का अभ्यास करने से कोई भी विघ्न योग मार्ग में उपस्थित नहीं होता।

यद्यपि सूत्र में एक तत्त्व शब्द सामान्य रूप से पठित है। अत: किसी भी स्थूल पदार्थ को एक तत्त्व शब्द से ग्रहण करने की सम्भावना हो सकती है। केवल ईश्वर ही नहीं, तो भी शब्द शास्त्र का यह नियम है कि जहाँ अनेकार्थक शब्द होने से किसी एक अर्थ विशेष या निश्चय न हो वहाँ प्रकरण के बल से अर्थ विशेष का निश्चय किया जाता है।[2] उदाहरण के लिए सैन्धव शब्द के दो अर्थ है - लवण और

---

1. यो.सूत्र - 1/32
2. विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकत्वालम्बनं चित्तमभ्यसेत्।। व्या.भा. 1/32

अश्व। यदि भोजन के प्रकरण में सैन्धव शब्द का प्रयोग किया जा रहा है तो उसका अर्थ लवण होगा। यदि गमन का प्रकरण है तो सैन्धव शब्द का अर्थ अश्व लिया जायेगा। इसी प्रकार यहाँ भी एक तत्त्व शब्द के आठ अर्थ अमर कोष में बताये गये हैं-

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रभुज्यते।।

अर्थात् अन्य, प्रधान, प्रथम, केवल, साधारण, समान, अल्प तथा संख्या ये आठ अर्थ एक शब्द के है, किन्तु यहाँ ईश्वर प्रणिधान रूप प्रकरण के बल से एक तत्त्व शब्द का अर्थ ईश्वर ही ग्रहण करना उचित है। उपक्रमोपसंहार के नियम से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। जिसका उपक्रम होता है, उसी का उपसंहार भी होता है। उपक्रम ईश्वर प्रणिधान का है। अतः सूत्रकार ने उपसंहार भी उसी से किया है। अतः एक तत्त्व शब्द का अर्थ ईश्वर ही लेना चाहिए। कुछ आचार्यो ने एकतत्त्वभ्यास का अर्थ यह किया है कि किसी भी स्थूल तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। यह अर्थ उचित नहीं है।

चतुर्विध भावना

सारे अनर्थों और अशान्ति का मूल कारण अशान्त मन ही होता है किन्तु जब यह मन प्रशान्त और समाहित होता है तो यही कामधेनु के समान वांछित फल प्रदान करने वाला हो जाता है। इसलिये योग साधना में ही नहीं अपितु दैनिक व्यवहार में भी चित्त का निर्मल होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये पतंजलि ने चित्त की निर्मलता के लिये चार तत्त्वों की भावना करने का आदेश दिया है।[1] ये चार तत्त्व हैं- मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। इन भावनाओं की व्याख्या करते हुये व्यास देव ने कहा है कि सुखी लोगों से मैत्री करनी चाहिये, दुःखी लोगों पर करुणा करनी चाहिये, मित्रों से मुदिता और शत्रुओं की उपेक्षा करनी चाहिए।[2]

समाज में मुख्य रूप से चार दुर्भावनायें ही अशान्ति का मूल हैं। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों को सुखी देखकर अपने आप असन्तुष्ट होने लगता है और ईर्ष्या से भर जाता है। यह दुर्भावना मन को अशान्ति से कलुषित कर देती हैं। इस दुर्भावना को दूर कने के लिए एक ही उपाय है मैत्री। जब व्यक्ति सुखी लोगों को देखकर उनसे मित्रता करेगा तो चित्त का कालुष्य अपने-आप दूर हो जायेगा और एक वास्तविक सुख की अनुभूति होगी।

---

1. मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।। यो.सू. 1/33
2. तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्।। यो.सू.व्या.भा. 1/33

दु:खी व्यक्तियों का करुणा करने से भी चित्त का मल नष्ट हो जाता है। यद्यपि करुणा करने से दु:खी व्यक्ति का तो कोई लाभ नहीं होता, किन्तु करुणा करने वाले का लाभ अवश्य होता है।[1] करुणा मन के लिये वह रसायन है जो उसे संसार के समस्त प्राणियों के साथ जोड़ देती है। सबका सुख दु:ख उसका अपना सुख-दु:ख हो जाता है, जब ऐसा होता है तो मनुष्य किसी भी प्राणी को दु:ख नहीं देता। दुख न देने से चित्त में मलिनता का प्रवेश भी नहीं होता।

समाज में रहते हुये मित्र और शत्रुओं का होना स्वाभाविक ही है। जहाँ मित्रों को देखकर हमें प्रसन्नता होती है, वहीं शत्रुओं को देखकर पीड़ा की अनुभूति होती है। मित्रों से राग होता है और शत्रुओं से द्वेष होता है। ये दोनों ही भावनाएँ अशुद्ध हैं।[2] क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही बन्धन को जन्म देते हैं। इसलिये व्यासदेव ने कहा है कि मित्रों से मुदिता करनी चाहिये राग नहीं, और शत्रुओं से भी उपेक्षा करनी चाहिये, द्वेष नहीं। ऐसा करने से चित्त के समस्त मैल अपने-आप धुल जायेंगे और समाज, राष्ट्र और संसार के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अखण्ड शान्ति का वास होगा।[3]

वृत्ति निरोध

मन की वृत्तियां मन को चंचलता से भर देती हैं। जिस चित्त में जितनी अधिक वृत्तियां होंगी, वह उतना ही अधिक चंचल होगा। चंचल चित्त कभी भी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता इसलिये महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिये आदेश दिया है। चित्त की पांच अवस्थाएँ हैं- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।[4] क्षिप्त मन में अनन्त वृत्तियां होती हैं इसलिये क्षिप्त चित्त कभी शान्त नहीं होता। मूढ़ चित्त में क्षिप्त की अपेक्षा कम वृत्तियां होती हैं। विक्षिप्त चित्त में सब से कम वृत्तियां होती हैं, इसलिये ये तीनों ही अवस्थाएँ योगाभ्यास के लिये उपयोग नहीं है। एकाग्र और निरुद्ध चित्त ही योग के लिये उपयोगी हैं। यद्यपि निरुद्ध चित्त सिद्ध योगी का ही हो सकता है। साधारण सामाजिक परुष इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु एकाग्र अवस्था थोडे से अभ्यास से ही प्राप्त हो सकती है।[5] यह अवस्था अशान्ति रूपी रोग की दिव्य औषधि है।

---

1. दु:खितेषु करुणाम् पुण्यात्मकेषु मुदिताम्। अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। - व्या.भा. 1/33
2. एवमस्य भावयत: शुक्लो धर्म उपजायते। व्या.भा. 1/33
3. ततश्च चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते। व्या.भा. 1/33
4. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमय:। व्या.भा. 1/1
5. तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूत: समाधिर्न योगपक्षे वर्तते।। व्या.भा. 1/1

यमों का पालन

महर्षि पतंजलि ने योगाभ्यास के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच तत्त्वों के अभ्यास का आदेश दिया है।[1] यद्यपि पांचों यमों का पूर्ण पालन तो एक योगी ही कर सकता है। किन्तु समाज में प्रत्येक व्यक्ति योगी नहीं हो सकता। फिर भी थोड़ा बहुत पालन समाज के लोगों के द्वारा किया जा सकता है। ज्यों-ज्यों यमों का अभ्यास किया जाता है, त्यों-त्यों चित्त की शान्ति बढ़ती जाती है और विषय वासनाओं की ज्वाला बुझती जाती है। हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन और संग्रह की भावना ये पांच दुष्ट प्रवृत्तियां समाज में अशान्ति फैलाये हुये हैं। इन दुष्ट वृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए यमों का पालन अनिवार्य है।

मन, वचन और कर्म से किसी को चोट न पहुँचाना अहिंसा है। यथा दृष्ट यथा श्रुत वस्तु का कथन करना सत्य कहलाता है। बिना पूछे किसी का धन न ग्रहण करना अस्तेय है। वीर्य की रक्षा का नाम ब्रह्मचर्य है और संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग कर देना अपरिग्रह है।[2] इन यमों के पालन से सारा संसार परम शान्ति और सुख का अनुभव कर सकता है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इन यमों को पंचशील का नाम दिया था। पंचशील के माधयम से उन्होंने समस्त विश्व को एक परिवार के रूप में देखने की कल्पना की थी। वास्तव में तो समस्त यमों में यदि एक अहिंसा का ही पालन कर लिया जाये तो यह अकेली ही समस्त विश्व को शान्ति, समृद्धि, सुख और ऐश्वर्य से परिपूर्ण कर सकती है।

नियमों का पालन

यम एक सामाजिक आचरण है तो नियम व्यक्तिगत आचार है। यदि व्यक्ति नियमों का पालन भी करता रहे तो वह व्यक्तिगत रूप से परम सुख और परमपद् को प्राप्त कर सकता है। यम और नियम में केवल 'नि' उपसर्ग का अन्तर है। 'नि' उपसर्ग व्यक्तिगत आचरण का वाचक है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान इन पांच तत्वों को नियम कहा जाता है।[3] आभ्यान्तर और बाह्य शुद्धि को शौच कहते हैं। अपने पास में स्थित साधनों से अधिक इच्छा न करना सन्तोष कहलाता है। सन्तोष को सर्वश्रेष्ठ सुख कहा गया है। सुख का मूल सन्तोष है और

1. अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।। यो.सू. 2/30
2. तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते।। व्या.भा. 2/30
3. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। यो.सू. 2/32

अशान्ति का मूल असन्तोष है। यदि सारा विश्व सन्तोष को धारण कर ले तो परस्पर का वैमनस्य क्षण भर में नष्ट हो सकता है। तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान मनुष्य को आत्मिक बल प्रदान करते हैं।[1]

इस प्रकार योग साधना के प्रथम दो सोपानों पर कदम रखते ही मनुष्य के अन्दर छिपे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि शत्रु भाग खड़े होते हैं। मनुष्य के अन्दर और बाहर केवल शान्ति का ही साम्राज्य होने लगता है। परिवार में सुख, समाज में शान्ति और विश्व में समृद्धि योग साधना के द्वारा ही आ सकती है। ऐसा महर्षि पतंजलि का मत है।

✦✦✦

---

1. तत्र शोचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च .... ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।। व्या.भा. 2/32

नाट्यविद्यायां वैदिकी भूमिका

–डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी

पूर्व-आचार्यः, संस्कृत-विभागः,

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठम्, वाराणसी

भारतीयवाङ्मये वेदानां महत्त्वं सुविदितमेव। अस्माकमार्षपरम्परा स्वीकरोति– "वेदात् सर्वं प्रसिद्ध्यति।" अतो "वेदोऽखिलो ज्ञानमूलमि"त्यपि वक्तुं शास्त्रसम्मतमेव। ज्ञानस्य नैके विषयाः, विषयाणामप्येनेके विभागा वर्तन्त एव। भिन्नरुचिर्हि लोकः–इति न्यायेन जनः स्वाभिरुचिरुचिरं विषयं गृह्णाति। नाट्यं तु भिन्नरुचेरपिजनस्य प्रायेणैकं समाराधनं भवति। यतोहि काव्येषु नाटकं रम्यमिति सर्वानुभूतनवितथं तथ्यम्। अस्य वैदिकीं भूमिकां प्रमाणयति श्रुतिपारदृश्वा कविकुलगुरुः कालिदासः–"देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्[1]।" अस्य चाक्षुषक्रतोर्विधिं निर्दिशति मुनीनां मुनिर्भरतः सर्वोपदेशकं 'नाट्यशास्त्रं' निर्माय। इदं 'नाट्यशास्त्रं' 'नाट्यवेद' इति प्रथितं तत्रैव।

यथा–

योऽयं भगवता सम्यग् ग्रथितो वेदसम्मितः।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते।।[2]

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति।।[3]

भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसैः।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः।।[4]

तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।[5]

---

1. मालविकाग्निमित्रम्, 1.4
2. नाट्यशास्त्रम्, 1.4
3. तदेव
4. तदेव
5. ऋग्वेदः, 1.12

सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्।।[1]

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।।[2]

एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।।[3]

वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना।।[4]

उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम्।
इतिहासो मया सृष्टः स सुरेषु नियुज्यताम्।।[5]

कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो हि वेदः सङ्क्राम्यतां त्वया।।[6]

आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात्।[7]
यदिमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयम्भुवा।।[8]

एवं नाट्यशास्त्रप्रणेतुर्भरतमुनेरेभिर्वचनैर्नाट्यविद्याया वेदमूलकता स्वतः प्रमाणिता। अथ च तत्रैव महात्मना भरतमुनिना नाट्यविद्यायां वैदिकी भूमिकाऽपि संस्थापिता। नाट्यवेदस्य सङ्कल्पने भगवान् ब्रह्मा कस्माद् वेदात् किं गृहीतवानित्यपि सूचयति स मुनिः–

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।[9]**"**

नाट्यं हि संवादमयं भवति। पात्राणि परस्परं संवदन्ते। एवं नाट्ये सर्वमपि वस्तुजातं संवादरीत्या विन्यस्तं जायते। अयं मिथः संवाद एवात्र 'पाठ्यमि'त्युक्तम्। नाट्यस्येदं पाठ्यतत्त्वं वेदेषु प्रथमादृग्वेदाद् गृहीतमस्ति। ऋग्वेदे नैकानि संवादसूक्तानि

---

1. ऋग्वेदः, 1.13
2. तत्रैव, 1.15
3. तत्रैव, 1.16
4. तत्रैव, 1.18
5. तत्रैव, 1.19
6. तत्रैव, 1.20
7. तत्रैव, 1.25
8. तत्रैव, 36.54
9. तत्रैव, 1.17

सन्ति, तथा च स्वगतकथनान्यपि तत्र सूक्तेषु प्राप्यन्ते। केचन प्रमुखाः संवादाः विशिष्टानि च स्वगतकथनानि प्रस्तूयन्ते–

1. आजीगर्ति शुनःशेपस्य स्वगतं कथनम् – कस्य नूनं कतमस्यामृतानांमनामहेचारुदेवस्य नाम...... (ऋग्वेदः, 1.24)।
2. इन्द्रस्य मरुतोऽगस्त्यस्य च परस्परं संवादः – कया शुभा...... (1.165)।
3. पुनश्चतेषामेव संवादः – न नूनमस्ति........ (1.170)।
4. अगस्त्यलोपामुद्रयोः, अगस्त्य तच्छिष्यानाम् संवादः – पूर्वीरहम्... (1.179)।
5. विश्वामित्र–नदी–संवादः – प्र पर्वतानाम्....... (3.33)।
6. इन्द्रस्यादितेर्वामदेवस्य च संवादः – अयं पन्थाः....... (4.18)।
7. वसिष्ठस्य तत्पुत्रस्येन्द्रस्य च संवादः – श्वित्यञ्चो मा..... (7.33)।
8. इन्द्रभार्गवनेमयोः संवादः – अयं त एभि....... (8.100)।
9. यम–यमी–संवादः – ओ चित् सखायम्........ (10.10)।
10. इन्द्रवसुक्रयोर्वसुक्रपत्न्याश्च – असत् सु मे - तथा विश्वोह्यन्यो....... (10.27–28)
11. अग्नेर्देवगणानाञ्च – महत् तदुल्बं – विश्वे देवाः - यमैच्छाम मनसा (10.51–52–53)।
12. इन्द्रस्येन्द्राण्या वृषाकपेश्च – वि हि सोतोरसृक्षत............. (10.86)।
13. पुरुरवा - उर्वशी - संवादः - हये जाये मनसा....... (10.95)।
14. सरमा–पणि–संवादः – किमिच्छन्तीसरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा.... (10.108)।
15. इन्द्रस्य स्वगतकथनम् – इति वा इति मे मनो........ (10.119)।

एवमेतानि सन्ति ऋग्वेदे प्रमुखानि संवादसूक्तानि। तत्रान्येष्वपि सूक्तेषु पाठ्यतत्त्व-मन्वेष्टुं शक्यते।

नाट्यशास्त्रस्येमं श्लोकमधिकृत्य तत्राभिनवभारत्यां कृतो विमर्शोऽवधेयः–"इह पठ् व्यक्तायां वाचीत्युक्तं व्यक्तत्वं विवक्षाविशिष्टस्वार्थार्पणक्षमत्वम्। तच्च काक्वध्याय-वक्ष्यमाणस्वरालङ्कारादिसामग्रीयोजनेन भवतीति तयोपस्कृतं पाठ्यमुच्यते तच्च प्राधान्या-त्प्रथममुपात्तम्।" तथा हि वक्ष्यति–

"वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषातनूः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥"[1]

1. नाट्यशास्त्रम्, 14.2

अतएवाभिनयान्तर्भूतत्वेऽपि पृथगुपात्तम्। तद् ऋग्वेदाद् गृहीतम्।

इदं पाठ्यं (वाणी रूपम्) नाट्यस्य तनूः। अतएवास्मिन् विषये प्रयत्नः साधु कार्यः। कथनेनानेन सिद्ध्यति पाठ्यस्य प्राधान्यं नाट्ये। एतदेव कारणं यत्पाठ्यस्य वाचिकाभिनयत्वे सत्यप्यस्य पृथगुपादनं कल्पितम्। वेदे उदात्तानुदात्तस्वरिताः स्वरा तत्र वागेतेषां त्रयाणामेवाश्रयतः प्रसरति। किन्तु पाठ्ये (पदानामुच्चारणे) एतेषां स्वराणामुपयोगो भवितुं नार्हति। तत्र तु सप्तस्वरा उपयोगिनो भवन्ति।[1] एते स्वराः गीतिमुपकुर्वन्ति। एवमेव नाट्यशास्त्रे एतेषां स्वराणामाश्रयभूता रसा अपि निर्दिष्टाः सन्ति[2]। इत्थं पाठ्यं गीतेन रसेन च सम्बद्धं प्रतीयते। अपि च, कलातालालयाश्रितं स्वरयुतं पाठ्यं नाट्ये प्रयोक्तव्यमभिनेतृभिः। भरतमुनिना कथितमेव–"पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।[3]"

य उदात्तादयः स्वराः वेदे निरूपिताः प्रयुक्ताश्च, त एतेऽत्र नाट्ये 'वर्ण' इति स्वीकृताः। एते वर्णाश्चतुर्विधाः। यथोक्तम्–

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः॥[4]"

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः, वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः, करुणबीभत्सभयान–केषु उदात्तस्वरितकम्पितैः वर्णैः पाठ्यमुपपादयेदिति।

इत्थं नाट्येषु पाठ्यस्य निर्धारणे योजने च वेदस्य महती भूमिका वरीवर्ति।

अथ पाठ्यानन्तरं गीतस्य क्रमः। गीततत्त्वं सामवेदाद् गृहीतम्–'सामभ्यो गीतमेव च।' अत्र 'चकार'-प्रयोगेण पाठ्यस्य गीतस्य च तुल्यकक्षत्वमुक्तम्। प्रयुक्त 'एवकारः' सूचयति सामवेदात्केवलं गीतमेव गृहीतम्। वस्तुतो गीतिः साम्न आख्या नामधेयम्। जैमिनीये मीमांसादर्शनेऽप्युक्तम्–"गीतिषु सामाख्या[5]।" शोभनं सुखकरञ्चवचनं सामेति। सङ्गीतं तु परमं प्रीतिकरं हृदयावर्जकमिति सामान्यजनानामप्यनुभवः। अतः सङ्गीतमेव साम्न अर्थः। सङ्गीतस्य कारणादेव सामगानकर्तुः संज्ञा 'उद्गाते'ति प्रसिद्धा। सामगानस्य विधयः सहस्रसङ्ख्याकाः–'सहस्रवर्त्मा सामवेद'[6] इति। ग्रामं, नगरं वनञ्चाधिकृत्य

1. षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषध इति सप्तस्वराः (सरेगमपधनि)।
2. हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ।
   षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु तु॥
   गान्धारश्च निषादश्च (निषधश्च) कर्तव्यौ करुणे रसे।
   धैवतश्च कर्तव्यो बीभत्से सभयानके॥ (नाट्यशास्त्रम्)।
3. नाट्यशास्त्रम्, 14.68
4. तत्रैव
5. मीमांसादर्शनम्, 2.1.36
6. पतञ्जलिकृतं महाभाष्यम्, अ.1

सामवेदे ग्रामगेयगानमरण्यगेयगानं स्तोमादिकञ्च प्रयुक्तम्। सङ्गीते ये सप्तस्वरास्तेऽपि सामवेदादेवप्रादुर्भूताः। एवं हि साम गीतस्य योनिः।

उपरञ्जकत्वेन मनसः प्रसादकत्वेन पाठ्यानन्तरं गीतस्योल्लेखः समकक्षत्वकारणाच्च। गीतं तु नाट्यप्रयोगस्य प्राणाः। यथोक्तं नाट्यशास्त्रे–

गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः
शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम्।
गीतेऽपि वाद्येऽपि च सम्प्रयुक्तो
नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति।। (32.436)

अतः परोऽभिनयः। अयमभिनयो यजुर्वेदाद् गृहीतः–'यजुर्वेदादभिनयानि'ति। नाट्यशास्त्रस्याष्टमेऽध्याये भरतमुनिना 'अभिनयो' निरूपितः। स एनं व्युत्पत्तिजन्यार्थेन सह निरूपयति–

'अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभि मुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात्प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः।।[1]'

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथः परिभाषते–'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः[2]।' किन्तु दशरूपककारस्तु–"अवस्थानुकृतिर्नाट्यमि"ति।[3] कस्य परिभाषणं प्रमाणम्? इति संशीतिं विहायतटस्थभावेनाऽभिनयस्य स्वरूपं बोधव्यम्। 'अभिमुखं नयत्यर्थानिति अभिनयः।' अथवा, 'अभिनयति हृदयगतभावान् प्रकाशयतीति अभिनयः कश्चिदाचार्यः– "सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेणनीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेति अभिनयः" इति साधु विवृणोति।

अयमभिनयश्चतुर्विधः–

"आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राः चतुर्धा परिकल्पितः।।[4]"

अत्र वाचिकोऽभिनयः पूर्वमेव पाठ्यमिति कथितः। सत्त्वं तु मनः। मनस ऐकाग्र्यं विना कश्चिदप्यभिनयो न प्रवर्तते। वस्तुतः नाट्यं रसः। रसस्यान्तरङ्गं सात्त्विकम्। अतः सात्त्विके नाट्यं प्रतिष्ठितम्–'नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्।[5]'

क्रतुक्रियाविधानप्रधानो वेदो यजुर्वेदः। अत्रत्यानां मन्त्राणां विनियोगो विविधयज्ञेषु भवति। यज्ञानुष्ठानकर्मणि व्यापृतै ऋत्विग्भिस्तत्तदवसरेषु हस्ताद्यङ्गानां सञ्चालनं क्रियते।

1. नाट्यशास्त्रम्, 8.6
2. साहित्यदर्पणः, 6.2
3. दशरूपकम्, 1.7
4. नाट्यशास्त्रम्, 8.9
5 तदेव, 22.1

मन्त्राणां पाठेषु यथाक्रमं स्वरानुसारं हस्तसञ्चालनं तत्तत्स्वराणां सङ्केतार्थं प्रयोक्तृभिः विधीयते। यथा हि–उदात्तस्वरप्रयोगे (दक्षिण) हस्त ऊर्ध्वं याति (उच्चैरुदात्तः), अनुदात्तकाले हस्तो नीचैर्याति (नीचैरनुदात्तः) तथा च स्वरितस्वरसूचनार्थं करोरनयोर्मध्ये सञ्चाल्पते (समाहारः स्वरितः)। एतदतिरिक्तमपि यज्ञविधौ नानाप्रसङ्गेषु क्रियार्थं सङ्केतार्थं वा हस्ताद्यङ्गप्रचारः करणीयो भवति। अभिनयदृष्ट्या यजुर्वेदस्य त्रिंशत्तमोऽध्यायो महत्त्वमावहति। तत्रभिनयः तत्सम्बद्धाश्च शब्दाः प्रयुक्ताः प्राप्यन्ते।[1] एवं हि तत्र आहार्याभिनयदृष्ट्या षोडशोऽध्यायोऽपि बहुमन्तव्यः। अत्र शरीरे धारणीयानि वस्त्रादीनि अलङ्काराश्च प्रचुरतयोल्लिखिताः सन्ति। यथा–उष्णीषिनः, कपर्दी, व्युप्तकेशः, कृत्तिं वसानः, पिनाकं बिभ्रत्, विशिखासः, नीलग्रीवः, शितिकण्ठः, विलोहितः, निषङ्गिणः प्रभृतयः शब्दा उपलभ्यन्तेऽत्र[2]।

यद्यप्यभिनयो यजुर्वेदाद् गृहीतस्तथापि वेदान्तरेषु सङ्केतितोऽस्त्यभिनयः। 'शिक्षानरः' इत्येवमृग्वेदेऽभिनेताऽस्त्युल्लिखितः[3]। वक्षसि हारं धारयित्वा नर्तकस्य नर्तनमप्युल्लिखितम्[4] ऋग्वेद एव पणयो 'बेकनाटा'[5] इति प्रोक्ताः। बेकनाटस्तु 'द्व्येकनाट' एव, यस्यार्थोऽस्ति– स नटो यः पात्रद्वयस्याभिनयमेकाकी एव करोति। नटी तु ऋग्वेदे 'हस्रा' इति शब्दतः कथिता[6]। अभिनेतुरर्थे 'शैलूषो'ऽपि यजुर्वेदे प्रयुक्तः[7]। अपि च, यज्ञावसरे पाठ्यप्रयोगः साभिनयमेव भवति स्मेत्यपि वेदज्ञैर्बुधवरैरनुसन्धीयते।

नाट्ये पाठ्यस्य, गीतस्याभिनयस्य च वैदिकी भूमिका सनिदर्शनं विमृष्टा। अथावशिष्यते रसः। स त्वथर्ववेदाद्गृहीतः–'रसानाथर्वणादपि' इति मुनिवचनात्। रस्यते इति रसः। रसति वेति रसः। रसस्तु काव्यस्य नाट्यस्य वा प्राणभूतः। 'रसानि'ति नैको रसः। अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः[8]। शान्तोऽपि नवमो रस इत्यभिनवगुप्तपादा मम्मटाचार्याश्च। रसोऽभिव्यज्यते तत्र पाठ्याभिनययोगतः। नाट्यस्य साध्यं तु रस एव। 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'[9] इति भरतमुनिः।

अतो नाट्यस्य परिपूर्णता रसाश्रिता। एतदर्थमेवाऽथर्ववेदात् रसः समुद्धृत्य नाट्ये

---

1. यजु. 30.5, 6, 8, 19, 20, 21, 22
2. तदेव 16.22, 29, 51, 57, 58, 59, 61
3. ऋग्वेदः 4.20.8
4. ऋ. 8.20.22–'नृतवो रुक्मवक्षसः।'
4. ऋ. 8.66.10–'इन्द्रो विश्वान् बेकनाटान्।'
6. ऋ. 1.124.7–'उषा हस्रेव।'
7. यजु. 30.6–'गीताय शैलूषम्।'
8. नाट्यशास्त्रम्, 6.15
9. तदेव

स्थापितः। अथर्ववेदस्तु रसाश्रयो वेदः। यतो हि तत्राथर्ववेदे विविधाः रसाः भूयोभूयः सङ्केतिता विराजन्ते। यथा हि–कामिनीमनोऽभिमुखी करणम् (2.30), कामस्य इषुः (3. 25), कामात्मा (6.8), कामः (9.2 तथा 19.52) इत्येतानि शृङ्गाररस–प्रधानानि सूक्तानि। शत्रुनाशनम् (2.12), अमित्रक्षयणम् (4.22), सङ्ग्रामजयः (6.99), शत्रुदमनम् (7.70) इत्यादीनि सूक्तानि वीररसप्रधानानि। सपत्नक्षयणो मणिः (10.3) शत्रुसेनासम्मोहनम् (3.1) चाद्भुतरसयुते। शत्रुसेनात्रासनमित्यत्र (5.20) भयानको रसः। यातुधाननाशनम् (1.7) यातुधानक्षयणम् (6.32) इति रौद्रबीभत्सरसयुते। एतदतिरिक्तं शान्तिकर्मपौष्टि–कमारणमोहनोच्चाटनादिकर्मणां निदेशका मन्त्राः प्रचुरतयोपलभ्यन्ते। इत्थमथर्ववेदाद्रसं समाहृत्य नाट्येप्रतिष्ठितमित्यत्र नास्ति कश्चिद् विशयः।

नाट्यशास्त्रकृता भरतमुनिना नाट्योपकारिकानां वृत्तीनामप्युपवर्णनं कृतम्। तत्र भारतीवृत्तिः पाठ्येन सम्बध्यते। अतएवेयं भारतीवृत्तिः ऋग्वेदतो गृहीता।[1] अतः परमभिनयेन सह सात्त्वतीवृत्तिरुपयुक्ता। अभिनयस्तु यजुर्वेदाद्गृहीतः। अतोऽस्याः वृत्तेः सम्बन्धो यजुर्वेदेन सह तिष्ठति।[2] नाट्यं रोचकं कर्तुं तस्मिन् गीतनृत्यादिकं सन्निविष्टम्। इदं नाट्यतत्त्वं सामवेदाद् गृहीतम्। सामवेदादुपादत्तैरेभिस्तत्त्वैः कैशिकी वृत्तिः संरचिता। इयं वृत्तिर्गीतनृत्यसङ्गीतपरा प्रायेण च स्त्री बहुला भवति। एवं कैशिकीवृत्त्याः सम्बन्धः सामवेदेन सह प्रतिष्ठितः।[3] रसास्तु नाट्यस्य प्राणा एव। रसस्यैवाभिनयः क्रियते नटैः। तेषां रङ्गमञ्चस्य च सज्जा, दृश्यानां विचित्राणामाकर्षणरुचिराणां संयोजनं तु प्रेक्षकाणामा–नन्दाय मनोरञ्जनाय चानिवार्यम्। अत्रैतस्य प्रयोजनस्य पूर्तिं करोति वृत्तिरारभटी नाम्नी। रसोऽथर्ववेदाद् गृहीतः। अत आरभटी वृत्तेराधमर्ण्यमथर्ववेदं प्रति सिद्ध्यति।[4] रसानामुपकार–कत्वादेता वृत्तयो नाट्यमातर इति प्रोक्ताः–"वृत्तयो नाट्यमातरः।"

भरतमुनिना स्पष्टमेव प्रतिपादितं यदेताश्चतस्रोऽपि वृत्तयो वेदेभ्य एव गृहीताः। यथा–ऋग्वेदाद् भारती, यजुर्वेदात्सात्त्वती, सामवेदात्कैशिकी, अथर्ववेदाच्चारभटी वृत्ति–रित्यल[5] विस्तरेण।

✦✦✦

1. नाट्यशास्त्रम्, 20.26
2. तत्रैव, 20.40
3. तत्रैव, 20.51–53
4. तत्रैव, 20.65
5. तत्रैव, 20.25

Dharma and spiritual path versus religion,

or : talking about the fundamental contradiction between the sincere spiritual path - dharma, and the institutionalized doctrinal ideology - rgligion.

Karel Kamlanand

Czechoslovalia
Email : kamalanand@matfz.cv

"There is no religion higher than truth."

- Holena Petrovna Blavatsky, founder of the Theosophical Society

"Making enemy on name or religion is always bad".

- Swami Dayanand Saraswati

"Religion is for people who're afraid of going to hell.
Spirituality is for those who've already been there."

- Vine Victor Deloria, Native American Indian historian and philosopher from a strain of Sloux

"They came to us with the Bible and their religion,
stole us our land, desecrated the spirits of our ancestors,
and we still claim that we must give thanks their God that saved us!"

- Pontiac, Chief of the Ottawa American Indian tribe.

"When the missionaries came to Africa they had the Bible and we had the land.
They said: 'Let us pray.'
We closed our eyes. When we opened them we had the Bible and they had the land."

- Dasmond Mpilo Tutu, Anglican Archbishop in Republic of South Africa

"Religion began when the first scoundrel met the first fool."

- Francois Marie Arouet - Voltaire

"Religion was invented when the first con man met the first fool."

- Mark Twain

Effort to understanding and to realising of spirituality and various cults confessing transcendent fundamentals of universe have accompained mankind since its earliest beginnings. Archaeologists have discovered conclusive evidence about it even by predecessors of the species Homo Sapiens. Even in some animals (mammals and birds) can find some natural tendency to kind of cults. For example from the behaviour of elephants, who find the remains of other dead elephants, can be assumed, that in the spiritual life of elephants manifests something, what is in the human society called "ancestor worship". Anthropologists have not discovered on all the world any culture, which should not some kind of understanding of spirituality. Therefore it is obvious beyond any doubt. that the spirituality accompanying mankind everywhere and at all times.

But something totally different is organised and institutionalised dogmatic and doctrinal ideology - RELIGION. Religion is possible to seen as a misuse of spiritual feelings of people for their domination, subjugation and exploitation. Religion is not a spiritual path, but a tool for gaining power and opulence. Therefore the opposite expression of the term "religion" is not the word "atheism", but the "spiritual path", "spirituality", "dharma". The ideologized atheism (though not sceptical agnosticism) is actually also one of the religions.

Therefore we now analyse the main differences, that are between spirituality and dharma on one side, and religion on the other.

Most noticeable difference is the **direction -** in the case of Dharma Spirituality is the direction from bottom up to top, from man to the Higher principle (mostly transcendental). Oppositely is it in the case of religion, there is reversed direction - from the top down to man. This means that allegedly a "god" dictates the ideology and commands to his messengers - prophets, apostles, missionaries, etc., and they then spread it among the common people - they doing this either by simply learning, or as well by brainwashing and even by "fire and sword".

In the Dharma man, as well as in scientific research, their spiritual knowledge gradually discovers and uncovers his spiritual journey, while in the religion has the only true ideology given in advance, codified confessions of faith and religious dogmas. And what must a believer in religion to do is, that trim, bend and planed his mind, so that they fit into

pre-prepared forms of religious dogmas and ideology. Therefore in the Dharma is man seeking the truth, while in religion adapts to that, what is presented to him as the truth.

In both cases also occur **rituals.** But rituals are very natural phenomenon, that acting as a significant medium of social structures, not only for people but also for animals. Most animal rituals that people know, refers to reproduction and definition of their life territories. But like animal ritual can be considered, for example by dog, also wagging his tail for a sign of friendship, or showing teeth, as a ritual intimidation. Because that rituals are clearly visible externally, they are often regarded as just the most important component of spirituality and dharma, but also religion. Definitely in both actually forming a very important and significant role. But even those rituals have in spirituality and religion different, almost contradictory sense. Whereas the rituals on the spiritual path should to operate as a certain aid, tools, utility, which facilitate a personal spiritual endeavours, so in religion contrary-by the religious ritual a person tries to woo God’s will for his own benefit. It means, that he wants that god of his religion, by this religious ritual, to corrupt.Whilst the spiritual rituals tying the human mind to higher things, so religious rituals are tasked with providing income to priests, and common people to submit to checks and enforce him the feel of inferiority in comparison to the religion and its leaders. Worshipping some kind of idols, thus praying, is a good way to give the common people to aware, that his place in society is below, and above them is a class of various priests and holy saints, who had mediated connection to by God, because was by him for that selected and appointed. Religious victims are intended for similar acquisitive purposes-either believer pay to the priest for the offering or to buy it from him, or bring something (eg. meat or money), and then after the ceremony becomes the property of the priest. Or can directly by, from the Church, the indulgences for sins.

Thus *religious rituals* are held for the following reasons: either bribe "God", for arranging something in the material world so, like the believe who to hold this ceremony wants; or to the redemption, that is to forgiveness "sins" and the posthumous salvation.

But the *spiritual rituals* are held for that reason, that the experience of that ritual (the process itself-its actions, not its execution) evoke the human condition closer to the transcendent spiritual world and higher reality, which then can be even easier to implement.

Thus we can say, that the essence of spiritual rituals is a transcendent, whereas the essence of religious rituals is immanent.

Another factor, dividing the dharma and religion, is the **openness and diversity of dharma,** versus **rigid uniformity of dogmas of the religious ideology.**

The spirituality of the Dharma is a personal spiritual journey of each individual, and therefore each inevitably has a slightly different direction and shape, based on the nature, intelligence, education, and spiritual progress of the individual, and also by his cultural and social background.

Opposite-every religion is accurately defined ideology obligatory for all its devotees anyway, without exception, and any slight deviation is regarded as a heresy and any other idea for apostasy. Individual adaptation of religion is inadmissible, and it is a sin. Therefore spirituality of the Dharma brings different people together, and reconciles them, but the religion divides people, puts among them the barriers of hatred, and guides to wars.

For religion is also a hallmark the creation of various totalitarian-ideological societies. ie. the Churches, destined to promoting the ideology of their leaders (various prelates, or mafia godfathers) having from his ideology cushy business. In opposite the spirituality of the Dharma cannot bind into some church, because it is independent and individual. So if is by the state power (eg. the legislation of the Czech Republic) required to organize themselves spiritual or dharmic currents into an organization functioning on the principles of Churches doing it always major difficulties, and such a request can be considered directly behind the suppression of religious freedom.

From the above it follows, that if we wish to embark on journey of spiritual development, so to add into some Church, where they tell us what is certainly true, and that everything moreover it is definitely falsehood, and say how it all must doing, and that otherwise they can not do; it is for spiritual self-realization rather brake and an obstacle than a utility for aid. Because Church will us, on our spiritual path, constantly tossing sticks of their totalitarian ideology under our feet. Because on the our spiritual journey we can inspire, but not copy it.

Etymological comment:

* The Sanskrit word **Dharma**–**धर्म** drives from the word Dharati–धरति ="*to hold*"

(in Hindi धरना, but this is unrelated to the word धरती), from a verbal root dhṛ–धृ, which originates from the Proto-Indo=Eurupean verbal root*dher-

If follows, that Dharma should serve as a railing, or handle, which a person can hold on the spiritual path.

The Czech language is the only one of all, which have for the Sanskrit word Dharma its own exact equivalent. The word is "DRZMO", Devanagari script rewritten as दृज्मो, and in IPA (International Phonetic Alphabet) drzmo. The verbal root "DRZ", from which this word derives, originated from sanskrit by development: dhṛ - dṛh - drzh - drz.

* The English word "**religion**" comes from the Latin orignal "religio" (रेलीगिओ), which has 2 options of etymological explanation:

1st derives from the prefix "re-"=again, or next time + the word "legem"=law

2nd derives from the word "religo"=to bind, fasten, tie, tether

It follows, that religion is redundant law, which only binds and fetters man.

✦✦✦

Causal Genesis & Celestial Beings

A study in Vedas Part - I

Siddhartha A. Bhargava &
Prof. Dinesh Chandra Shastri.
Dept. of Veda, G.K.V.,
Haridwar (UK), India - Bharat

The sparkling Starry skies of the night have fascinated humankind from time immemorial; Intriguing him for millenniums...., Shaping his imaginations, and kindling his fantasies.......; Inspiring him to unravel the riddles behind - these mysterious twinkles and their enigmatic formations......; Invoking him to challenge the forces of gravity..... and soar beyond the horizons....., to take a glimpse of the world around him...., in search of his true identity!

Impulsively, he somehow knew that; a quest out there, ... is indeed a quest within. He intuitively believed that.... the ultimate answer to the perennial quests of - 'What am I?' and 'Where did I come from?' ....lay somewhere out there!

While the scientists of today, have now come to accept that, basically - we are all made-up of Stardust! The scientists of yonder - the *so-called 'primitive'* Sages and Rishis, eons ago had arrived at a fairly similar conceptual conclusion, when they declared:

लोक-संमितोऽयं पुरुषः-यत् पिण्डे, तद् ब्रह्माण्डे।। चरक-संहिता[1]

And correspondingly, they appear to have believed that - a comprehensive understanding of the Cosmos, would not just provide us with an understanding of - the Creation and the Creator, but would bestow us with a profound insight into our own selves. Therefore, virtually all the Religions and Philosophies, across the globe, and across the millenniums;

---

1. चरक-संहिता-शारीर-स्थान-4.31

have attempted to decipher the conundrum of the Cosmos, and its Genesis; along with the Origin of Life, in their own unique and peculiar ways.

It is for this reason that, the great Sages of the Vedic era seem to have accorded much prominence, and devoted much of their lives, to the subject of:

- **Origin of Universe -** i.e. **Cosmogony or Causal Genesis,** and consequentially -
- **Origin of Life** - i.e. **Biogony or Biogeny.**

The Vaidic Rishis have incredibly documented their quests and 'visions' in the form of captivating 'Hymns', which have - collectively come to be known as the **VEDAS**. The existential philosophical and scientific aspects of the Vedas have been further - systematically laid-out in - ***Paramarshi Kapila's*** **SANKHYA** Philosophy.

*** Sānkhya *decisively acceptsthe* - Authority ofVedas.**

The ancient **Sānkhya-school** of Philosophy presents a revolutionary and radical view of the Cosmos. **Sānkhya** - without any iota of doubt is an - **Āstika** philosophy: as it absolutely accepts the **Vedas as the ultimate Final Authority.**

***Sānkhya's - 'Supreme God' *is primarily a* - Natural entity;**
Not *a* Conscious entity!

However, Sānkhya - simultaneously is also claimed by many to be an - **Nirīshwara** philosophy; which is based on the standpoint that - Sānkhya categorically does NOT accept the existence of any one unique ***Supreme Conscious***; in the form of the ***Supreme God***. Sānkhya accepts only - ***Multitude of Conscious***; which are all absolutely equal. However,merely based on this principle, Sānkhya - can NOT outright be declared as a - *Atheist* philosophy; As merely being a **Nirīshwara** philosophy in this form: does Not necessarily lead to the conclusion that - Sānkhya does Not-at-Allaccept the existence of the - **Supreme God**. Sankhya infact categorically accepts the existence of the - **Supreme God!** *i.e. while: -*

x Sānkhya does ***NOT Accept the existence of - Supreme Conscious***[1]; but -

1. ईश्वरासिद्धेः। –सा.सू. 1.92

☞ Sānkhya does **Accept the existence of - Supreme God; & Supreme Creator**[1]:

This seems like a total contradiction, ... a paradox! But, it is not. It is a fact!!

The expression - **Nirīshwara** in the context of Sānkhya, merely means: A philosophy that does Not accept the existence of a unique single - ***Supreme Conscious***. However; While Sānkhya undoubtedlydoes *NOT* accept the existence of a ***Supreme Conscious***; Nevertheless, Sānkhya decisively accepts the existence of - a **Supreme God** or **Supreme Lord**, who is also the **Supreme Creator** of the Whole Universe; But, Not in the form of a - ***Supreme Conscious***; Butrather, in the form of the - **Supreme Mind**, and **Supreme Ego**.

Sānkhya's - Supreme Mind and Supreme Ego, as we have formerly seen - are forms (*manifestations or evolutions*) of **Nature**; and ***Not of Conscious***. Hence, Sānkhya's - Supreme God or Supreme Lord - is infactprimarily a **Natural** phenomenon; which Does Not directly involve the - super-natural Conscious. To summarise: -

x Sānkhya does ***NOT Accept the existence of - Supreme Conscious***; but -

☞ Sānkhya does **Accept the existence of - Supreme God**; and **Supreme Creator: -**

- which is -

✓ In the form of a - **Supreme Mind**, and **Supreme.Ego.**

i.e. In the form of a - **महत् - Mahat**; and - **[आदि] अहंकार** - Ahankara;

→ Both of which belong to the realm of - **प्रकृति** - **Prakriti**; i.e. **Nature**.

- but, which is -

x ***NOT*** in the form of a - ***Supreme Conscious.***

i.e. Not in the form of - **पुरुष - Purusha**; or any -**पुरुष–विशेष**; or **परम–पुरुष**;

→ which would have belonged to the domain of - **पुरुष** - **Purusha**: Conscious.

---

1. स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। –सा.सू. 3.57
ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। –सा.सू. 3.58

Accordingly, Sānkhya's - **Supreme God**; and **Supreme Creator** - is very much a **Natural Entity**, and NOT an Extra-Natural or Conscious Entity. Nonetheless, irrespective of whether Sānkhya's Supreme God and Creator: is a Natural entity or Conscious entity; As Sankhya categorically accepts the existence of a - **Supreme God** and **Creator**; Hence, Sānkhya can Not be outright termed as an - ***Atheist*** philosophy. It is more like a fusion and hybrid between a - **Theist** and **Atheist** philosophy.

Sānkhya's - Purushas *or* **Conscious(s)** *are* **- Multiple;** *and are only* **Observers, Not Executers.** *Hence, have* **NO direct role** *in* **Creation.**

As far as - the "**Existence**" of **Purusha** or **Conscious** is concerned; Sankhya only: -

☞ ***Accepts existence*** of: **Multiple Individual Conscious** - i.e.**पुरुष - Purusha**; but -

x Does ***Not Accept existence*** of a: ***Single Supreme Conscious*** - i.e.**पुरुष-विशेष**; or**परम-पुरुष**.

Sānkhya's - ***Purushas*** or multiple ***Conscious*** are only **Observers**, but ***Not Executers*** (Doers or Actors). Hence, Sānkhya's - ***Purushas*** or ***Conscious*** - have No direct role to play in either - Cosmic Creation, or even Individual Creation.

Sānkhya's - Critical Similarity *with* **Modern Science:**
"Nature" *is the* **- 'Principal'** *in* **Creation!**

As per Sānkhya, "**Creation**": both on the Cosmic Scale, or on the Individual Scale; is the sole Domain of - **Nature**, i.e. **Prakriti** itself. This principle, may gel well with that of Modern Cosmology; As even though Modern Cosmology has Not yet been able to present a complete Law or even a Theory of Cosmology; it definitely does Not accept, Nor (*in its present state*) intends to accept a separate domain of **Conscious - Purusha**.

So, both, **Sānkhya** and **Modern Cosmology** - believe **NATURE**, i.e. **PRAKRITI** to simultaneously be the: -

1.	CREATOR	- of Creation	- सृष्टेः - कर्ता
2.	INSTRUMENT	- of Creation	- सृष्टेः - करणम्
3.	RAW-MATERIAL	- of Creation	- सृष्टेः - कर्म

In terms of "**Cause**", **Nature**, i.e. **Prakriti** can be explained as: -

1. Creator	आकारिक & निमित्त कारण	FORMAL & EFFICIENT CAUSE	Agent
2. Instrument	सहकारी or साधक कारण	INSTRUMENTAL CAUSE	Instrument
3. Material	उपादान कारण	MATERIAL CAUSE	Raw Material

Accordingly, both **Sānkhya** and **Modern Cosmology** - similarly accept the notion that the over-all Predominant 'Cause' of the [Observable] Universe is → NATURE. This is the very reason for the Sānkhya to have specifically termed - Nature, i.e. **Prakriti** as - **प्रधान - Pradhana**; i.e.the **Primary** or **Predominant** - "Cause" of Creation.

Similarly, Sānkhya's - **सत्कार्य-वाद** and **परिणाम-वाद** - is in harmony with Modern Science's concept of "Evolution",whether: -

1. **Cosmic Evolution** : *Evolution of Universe û Energy, Force, Particles, from Big Bang,*
2. **Celestial Evolution**[1] : *Evolution of various Celestial Bodies, or*
3. **Biological Evolution** : *Evolution of Organisms and Species.*

This makes Sānkhya to predominantly be - more of an *Evolutionist* system, than a Creationist system.

Sankhya's - Critical Difference *with* **Modern Science:**
in **Cosmic Evolution :** *a pre-existing* **- Mind.**

However, there is a fundamental difference between **Modern Cosmology**'s - understanding of **Nature**, and **Sānkhya**'s - understanding of **Nature**.

While **Modern Cosmology**'**s - Nature**, may generally be described as primarily **Two-fold**, i.e.: -

I. ENERGY - *Primary form of Nature; &*
II. MATTER - *Secondary form of Nature;*

- with -

→ *MIND - being one of the 'Effects' of Nature.*

On the other hand, **Sānkhya's - Nature**, is primarily **Three-fold**, i.e.: -

I. **MIND** - *Primary form of Nature; which is* - **SATTVA - pradhāna**
II. **ENERGY**-*Secondary form of Nature; which is* - **RAJAS - pradhāna**

---

1. Evolution of Celestial Bodies, like: Galactic Evolution, Stellar Evolution, or Planetary Evolution.

III. **MATTER**- *Tertiary form of Nature; which is* - **TAMAS - pradhāna**

Accordingly, we may here observe that: while both, **Modern Science** and **Sānkhya** - similarly accept the substance - "**Mind**" as a Natural Entity; The primary difference between **Modern** and **Sānkhya**'s - **Cosmology**'s is that: -

☞ **Modern Evolution** - *accepts* "**MIND**" *as an* - **EFFECT** *of* **Cosmic Creation.**

☞ **Sānkhya Evolution** - *accepts* "**MIND**" *as the* - **CAUSE**[1] *of* **Cosmic Creation.**

In other words: -

☞ **Modern Evolution** - *accepts* "**MIND**" *as the* - **PINNACLE** *of* **Cosmic Creation.**

☞ **Sānkhya Evolution** - *accepts* "**MIND**" *as the* - **FOUNDATION** - *of* **Cosmic Creation.**

This critical difference dramatically changes the - fundamental narration of the '***Origin of Universe***' or **Cosmic Evolution** - between both these Opinions of 'Cosmology'.

In regard to **Cosmic Evolution**: Modern Cosmology - has absolutely No Explanation; or as a matter of fact, Not even a scientifically acceptable - Postulation, or Hypothesis; let alone a proper Theory, or Law; in respect to the - ***Planck-epoch***: which is the 'earliest moment of Time' immediately following the Origin of Universe in the Big Bang, in the **Very-Early Universe.**

Unproven Theories like - the ***String Theory***; and recent ***Loop Quantum Gravity***, are riddled with more problems, than solutions; And thus, even after more than Thirty Years in the making, and accompanied by intense scientific research: - The String Theory is still as far away from solving the problem of Quantum Gravity, as it was - 30 years back. Nevertheless, none of these Theories are able to provide a proper explanation regarding the Origin of Time or Space too.

This is the predominant and unconquered stumbling stone in the path of Modern Cosmology's relentless and remarkable, but unsuccessful attempts to develop a Unified "**Theory of Everything**". This is the "Holy Grail", and achieving or discovering this is the absolute ultimate objective of Modern Science.

---

1. i.e. Formal & Efficient Cause; Not Material Cause;

However, Sānkhya's - **Cosmic Mind** potentially presents a comprehensive solution. Accepting the Mind, i.e. the Cosmic Mind at the very origin of the Universe, as the very first manifestation or formation of the Universe, at the beginning of Planck-epoch: - potentially can solve All the problems of the Origin of - Energy, Particles, Forces, Fields, Matter, Space, Time, Quantum Mechanics, Relativistic Gravity, etc.

As this process basically gives rise to all these various forms of - Energy and Matter; Space and Time; etc. It is referred to as - **Cosmic Evolution**. However, philosophically speaking, in the perspective of Sankhya: this could be more appropriately termed as - **Cosmic Devolution**, as this is Nature's Journey and Evolution from a Higher-state towards a Lower-state; viz.: -

S**ATTVA-dominance:** *i.e.* **Primary, Highest, Lightest** *&***Subtlest** - State of Nature; to

RAJAS-dominance: *i.e.* **Secondary, Intermediate** *&* **Dynamic** - State of Nature; to

TAMAS-dominance: *i.e.* **Final, Lowest, Heaviest** *&* **Grossest** - State of Nature.

In contrast, the term "Evolution" is rather more appropriate when the Journey or Development is from a (*cruder or*) Lower-state towards a Higher-state. Nevertheless, this is merely a matter of perspective, or view-point. The term **Cosmic Evolution** too can be regarded equally appropriate, as this is also the Journey from the: -

Unmanifest *or* **Unobservable** *or* **Imperceptible** - State of Nature; to

Manifest *or* **Observable** *or* **Perceptible** - State of Nature

Sānkhya's - Critical Difference *with* Modern Science: *in* Celestial Evolution: *a pre-existing* - Mind.

In regard to **Celestial Evolution**; Modern Cosmology accepts the notion that: before the formation of the First Celestial Bodies or Objects; the **Early Universe** was (*almost*) absolutely - uniform, monotonous and featureless. Now, the major problem arises - as to what primordially triggered the formation of the - very first Primordial Black Holes, Stars or Galaxies?

Modern Cosmology does Not accept an pre-existing Mind; And

so, in the given circumstances, Modern Cosmologists are constrained to Conceptualise and Imagine - some unknown, unproven, and hypothetical - "**Random**" variations- of absolutely unknown origins; Which they believe- must have somehow occurred inû the uniform and featureless **Early Universe**. These hypothetical - "**Random**" variations are believed by Modern Cosmologists to have acted as the primary '**Seed**' or '**Cause**' for the Origin of the very first Celestial Bodies.

All these, and the later - Celestial Bodies[1] and Celestial Objects are astonishingly found to be established in a **well-organised external hierarchically** system; which together, collectively form the elaborate - Cosmic-Web. All these Celestial Bodies surprisingly also more-or-less Symmetrical-in shape; and possess **Well-Organised Internal Structures** and sub-structures. They also all invariably harbour - sustainable **Internal Energy Generation Mechanisms** - during their prime and active phases.

Now, Modern Cosmology claims all these amazingly **well-organised** entities to be the out-come of some totally **Random** variations.

On the contrary; As the Sānkhya Cosmology accepts the **pre-existence** of a '**Mind**'; And a **Mind** intrinsically possesses the ability to: -

1. Cognate,
2. Sense, &
3. Move,

Hence, the Cosmic Mind with these inherent abilities, splits or manifests into or multiple - IndividualMinds,which all - can 'intentionally' initiate and cause - the Individual 'variations' with in the uniform and featureless **Early Universe**; which would eventually lead to - formation of All the various Celestial Bodies and Objects.

Accordingly, Sānkhya's **Celestial Evolution** is a **Mind-guided** phenomenon; which is reliant on a **pre-existing Mind**; and so, it does Not need to rely on - some unknown, unproven, and imaginative - "***Random***" or "***Accidental***" variations - of absolutely unknown origins; - for the origin of these phenomenally well-organised, symmetric, and energetically self-sufficient - Celestial Bodies.

---

1. Only Celestial Bodies which achieve Hydrostatic Equilibrium are considered here; such as Planemos and above.

Sānkhya's - Critical Difference *with* **Modern Science:**
in **Biological Evolution:** *a pre-existing* **- Mind.**

As much as thisprimordial and critical difference [*of Accepting or Not-accepting a* **pre-existing Mind**] - affects the basic approach of these two opinions, regardingthe - Origin of Universe, and Origin of Celestial Bodies; This critical difference also has clear implications on the topic of - '**Evolutionary Life Sciences**' too.

Unlike the predominantly Religious - 'Creationists'; Sānkhya and Vaidic system, in accordance with Modern Evolution Theory - can be evidently claimed to accept - 'Evolution of Lifeforms', as depicted in this Thesis. Hence, similar to Modern Evolutionary Science, Sānkhya too is an - "Evolutionist" system.

However again; There is One major Difference.

☞ **Modern Evolution -** *accepts* **"MIND"** *as an* **- 'EFFECT'** *of* **Biological Evolution.**

☞ **Sānkhya Evolution -** *accepts* **"MIND" as the - 'CAUSE'** *of* **Biological Evolution.**

As Modern Science does Nota ccept the pre-existence of a '***Mind***'; Consequentially, Darwinian Evolution (*which along with Mendelian Genetics - is presently regarded as the mainstream theory of Modern Evolution*) accepts Only - "**Hard-Inheritance**", i.e. **Genetic (Geno-type)** Changes; as the primary reason for the **Evolution of Species**; Andrejects the notion of "***Soft-Inheritance***", i.e. 'Inheritance of Acquired Characteristics' or Epigenetic (Pheno-type) Changes, as primary reason for Evolution.

This is due to the reason that - "***Soft-Inheritance***": -

- may not yet have been scientifically proved then; *but more importantly, it* -
- is not viable within Modern Science's standpoint - which *rejects* a pre-existing Mind.

Hence, Darwin's sole acceptance of "**Hard-Inheritance**", led him to chiefly rely on - "**Random-Mutation and Natural Selection**", which is also now accepted by Modern Science as the primary cause of - Biological Evolution.Here too, Modern Science is constrained to primarily rely on - **Random** or **Accidental** Changes - for the Evolution of 'Superior' Organisms and Species.

On the contrary; As the Sānkhya-Veda system accepts the pre-existence of a '**Mind**'; Consequentially, it becomes viable in Sānkhya's stand-point to accept - "**Soft-Inheritance**", i.e. '**Inheritance of Acquired Characteristics**' or **Epigenetic (Pheno-type)** Changes - as a chief reason for Biological Evolution; which may also act as a precursor and cause of - 'Hard-Inheritance' or Genetic (Geno-type) Changes. This is possible here because - "**Soft-Inheritance**": -

- is now being scientifically proven, and accepted - by Modern Evolutionary Biologists; &
- is completely viable **Only** in Sānkhya's standpoint - which *accepts* a pre-existing Mind.

This is because, as stated, **Mind** inherently has û Three Abilities: -

1. **Cognitive** Ability,
2. **Sensory** Ability,
3. **Motor** Ability,

Further, Only whenwe accept an **Individual Mind** that pre-exists; Which presides and administers an Individual Organism; There upon, this Individual Mind will strive (*due to its innate abilities*) to develop - unique Cognitive, Sensory, and Motor Abilities - within its administered Individual Organism, as per its own individual desires and tastes. This consequently gives rise to the unique character and personality found in each and every - Individual Organism. Correspondingly,some unique '**Characteristics**' would have been primordially '**Acquired**' by the very First Living Organism (FLO); as it is driven by its - Individual Mind.

Furthermore, in accordance with "**Soft-Inheritance**": As the '**Acquired - Characteristics**' or '**Epigenetics**' can be readily - '**Inherited**' by the First Living Organism's progeny; Therefore, the subsequent progeny can now - '**Inherit**' its Progenitor's - '**Acquired-Characteristics**'. Successive Inheritance, and the subsequent Stabilisation of these '**Acquired-Characteristics**' over few Generation would lead to slight '**Genetics**' changes, which will eventually lead to - Evolution of New and Higher Species.

Here too, we can observe that Sānkhya's Evolution is an essentially **Mind-guided** phenomenon; which is reliant on a **pre-existing Mind**; and so, it does Not need to rely on - some **supposedly** '***Unintended***' - "***Random***" or "***Accidental***" mutations - which mysteriously results in some

of the most highly effective and dramatically brilliant Biological Evolutions; which conspicuously, predominantly and undeniably are not able to conceal the brilliant - **Intensions**, behind their evolution.

And, If there is an **Intension**; there is a **Mind**!

This means to say that: If Fishes have streamlined Bodies; It is the primarily the result of a - **strong Intension**, which arose in one of the common progenitor Ancestor of all Fishes; Which, due to its strong Intensions to Acquire - better Efficiency and Ability in Speed - was able to first Acquire some amount of better - streamlined motor, bodily, and physical Characteristics. This is Similar to how the Olympic Swimmers of today have acquired relatively better Streamlined Bodies, primarily due to their strong **Intension** for greater speed in water, which drives them to 'concentratedly' practice, and acquire these streamlined Bodily Characteristics; which is conspicuously visible and is productive in a single Generation itself. Further, when the progenitor Ancestor is successfully able to Pass-on its '**strong-Intension**', along with its slightly better '**Acquired-Characteristics**' - to its progeny, and they in-turn successively pass-them over to future generations; This will eventually result in Evolution of New and Efficient Species.

If we don't accept a pre-existing **Mind**; We would have to absolutely **Reject** any form of "**Intensions**" behind all these **highly successful** and **well-intended** - Biological Evolutions, we see all around us.

Hence, unlike the Darwinian Evolutionists, who primarily rely on: -

☞ "**Biological EVOLUTION** *by* **- Random-Genetic-Mutation** *&* **Natural Selection";**

The Sānkhya-Veda Evolutionists primarily rely on: -

☞ **"Biological EVOLUTION** *by* **- Intention;** *furthered by* **Epigenetics** *&* **Geneticsö.**

Sānkhya's - Critical Difference with Modern Science: "Mind" *as the* - "Cause" *vs* "Effect" - *of the* Universe?

Thus, we arrive at the Golden Principle of Sankhya:[1]

---

1. बुद्धिपूर्वसृष्टिविषयम् .... (विज्ञानभिक्षुकृतं सांख्य-प्रवचन-भाष्यम्-1.96)
बुद्धिपूर्वकसृष्टित्वाद् .... (विज्ञानभिक्षुकृतं सांख्य-प्रवचन-भाष्यम्-5.115)
अहङ्कार:-पूर्विकैव सृष्टि: .... (विज्ञानभिक्षुकृतं सांख्य-प्रवचन-भाष्यम् - 6.64)

बुद्धिपूर्वा सृष्टिः

All Creation, i.e. Manifestation, Evolution and Formation - **is driven by Mind.**

Accordingly, regarding All forms of "Evolution", viz.: -

1. **Origin of Universe - Cosmic Evolution** - *Universal Evolution*
2. **Origin of Celestial Bodies - Celestial Evolution** - I*ndividual Evolution*
3. **Origin of Organisms - Biological Evolution** - *Individual Evolution*

- The critical difference in approach between Modern Science and Sānkhya, can be summarised as follows: -

☞ **MODERN SCIENCE** - *accepts* "**MIND**" *as an* - '**EFFECT**' *of* **Creation** & **Evolution.**

☞ **SANKHYA** - *accepts* "**MIND**" *as a* - '**CAUSE**' *of* **Creation & Evolution.**

Furthermore, as per **Modern Science**, the - '**Cause**' or '**Trigger**' of these "**Evolutions**" are: -

1. **Cosmic Evolution** - *Universal Evolution* - **Unknown** *[pre Big Bang / Planch-epoch]*
2. **Celestial Evolution** - *Individual Evolution* - **Randomness or Chance.**
3. **Biological Evolution** - *Individual Evolution* - **Randomness or Chance.**

Accordingly, **Modern Science**:

→ with regard to the: '**Trigger**' of: -

* **Cosmic Evolution,**

which is - **Universal Evolution.**

- has absolutely **NO Explanation** and has accepted utter **Ignorance.**

→ And with regard to the: '**Trigger**' of: -

1. **Celestial Evolution,** &
2. **Biological Evolution;**

both of which are - **Individual Evolutions;**

- claims - **Randomness** *or* **Chance** - as the primary 'Trigger' of Evolution.

Accordingly, the **Primary Difference** between the two streams, in respect to the - **Cause or Trigger** of the two - '**Individual Evolution**' - can be described as follows:

Modern Science's Evolution *is triggered by* → **RANDOM or CHANCE**: → **ACCIDENT**

Sānkhya's Evolution *is triggered by* → **MIND or ASPIRATION:** → **INTENSION**

Hence, we can observe that - while the notion of "**Evolution**", including the major '**Steps**' or '**Process**' of **Evolution**": in boththe forms of - **Individual Evolution** i.e. Celestial and Biological Evolution; - can be regarded as more-or-less common acceptable to both - the Modern and Sānkhya streams; Yet, there lies a critical difference in the approach of both the streams, wherein: -

☞ **MODERN SCIENCE** - *primarily relies on* - **Randomness, Chance, and Accident.**

☞ **SANKHYA** - *primarily relies on* - **Mind, Aspiration,and Intension.**

- for both -

[I] **Celestial Evolution, &**

[II] **Biological Evolution.**

These Two forms of 'Individual Evolution' - respectively give rise to Two categories of 'Individual', and 'Highly Organised' Entities; viz.: -

[I] **Celestial Bodies, - देवाः**

[II] **Organic Species. - प्रजाः**

Even though, both these categories are undoubtedly, mutually highly diverse; Nonetheless, Individual Entities of both these categories conspicuously exhibit some common straits, like:

A. Both, **Celestial Bodies** and **Organisms** - exhibit an exceptional level of Internal and External - **Order** and **Organisation**; and are mostly '**Symmetrical**' in shape. This is evident from the fact that the Individual Entities of both these categories:

→ Internally possess: - ***exceptional internal*** - **Order** and a ***high level of internal*** - **Organisation**. This is prominently observable in the Internal Structural Formation of their Bodies [i.e. Celestial Body or Organic Body]. *Similarly* -

→ **Externally** possess: - the unique Ability to ***create external*** - **Order**, and ***externally*** - **Organise** their ***surroundings***, as per their Capacity [and their unique Individual Characteristics or Personality]. This is conspicuously observable in their External Habitats and Systems [*i.e. Celestial Systems (like Galactic-System; Stellar-, Star, Solar-System; Planetary-System*) or Eco-Systems].

→ **Symmetrical Body Formation** - is *by and large* commonly seen in their Body Shape. While All Celestial Bodies (*with hydrostatic equilibrium*) are rounded in shape; Organisms too mostly possess, and tend to evolve symmetrical body shapes.

B. Another interesting aspect - which is common to both these otherwise mutually highly diverse categories, is that both these categories prominently possess a - '**Sustainable Internal Energy-Generation Mechanisation**'[1] - that is in the form of Internal Energy[2] in - Celestial Bodies; or as Metabolism in - Organic Species.

Now, here lies the Crux of the problem! Even though Modern Science has evidently *more-or-less* established the fact that both these categories are the result of **Evolution**. However, Modern Science has failed to come up with any evidenced-based,scientific and logical answer, as to '**What was the primordial Trigger**' which primevallyinitiated the '**Evolution**' of both these categories of - highly Complex, Intricate, Orderly, Organised, *mostly* Symmetric and Internally Energy-Generating - Entities.

As it does Not accept a pre-existing Mind; Hence, Modern Science [*Both: Cosmology and Evolutionary Biology*] is left with No other option, but to primarily rely on an - unproven, and imaginative - **Randomness, Chance,and Accident** - as the '**Primordial Trigger**', in both these cases [*i.e. in the Evolution of both - Celestial Bodies and Organic Species*].

However, this - as per the Sānkhyas and Vaidics is absolutely Not acceptable.

The fundamental logic behind rejecting '**Randomness**' as the '**Trigger of Evolution**' of these - highly Organised Celestial and Organic Entities is: -

Randomness is **Disorder**; and so, it can evidently only be the cause of further **Disorder**; But can Not intrinsically be the cause of ***Order***.

---

1. Either Through-out their lifespan, or At-least for some substantial time.
2. Internal Heating or Singularity

Accordingly -

→ **Disorder** can NOT inherently give rise to x - ***Order.***

→ **Disorder** can inherently only give rise to → **Disorder; Chaos or Confusion.**

→ Only **Order** can inherently give rise to → **Order.**

Similarly: -

→ **Accident** can *NOT* inherently give rise to x - ***Organisation.***

→ **Accident** can inherently only give rise to → **Havoc; Destruction; or Disorganisation.**

→ Only **Intension** can inherently give rise to → **Organisation.**

Similarly: -

→ **Anarchy** can ***NOT*** inherently give rise to x - ***Systemor Functionality.***

→ **Anarchy** can only give rise to → **Deterioration; Malfunctionality; or Dysfunctionality.**

→ Only **Planning** can inherently give rise to → **System** or Functionality.

To overcome this problem, *if-at-all* Modern Science - hypothetically takes the stand that Nature inherently possess the tendency: **Sense of Order, Intension, or Planning**; Then it merely implies that Modern Science has conceded and inadvertently accepted that "Mind" is an innate part of Nature! Because, such aspects like - **Sense of Order, Intension, or Planning**: are the inherent characteristics of - "**Mind**".

Thus, it is **Hypothesised** here that: Only byaccepting Sānkhya's **pre-existing "Mind"** - as the underlaying **substratum -** of the other forms of **NATURE**, namely "**Energy**" and "**Matter**"; Can **Modern Science** ultimately solve its most critical Problems.

Therefore, until **Modern Science** - assimilates thepre-existing "**Mind**": -

→ **Modern Cosmology and Evolutionary Biology** - would continue to be constrained - to hopelessly depend on the: -utterly undependable; absolutely unproven; purely imaginative; thoroughly illogical; innately flawed; and unreliable - **Randomness, Chance,and Accident** - as the '**Primordial Trigger of** "**Individual-Evolution**"', in regard to boththe cases of **Individual Evolution**: i.e. **Celestial Evolution**, and **Biological Evolution.**

→ And likewise, **Modern Cosmogony** - would continue to harbour - **utter Ignorance**, regarding the '**Primordial Trigger of - "Cosmic-Evolution"**', i.e. **Universal Evolution**; And any **Logical and Scientific Explanation** - regarding topics like the:

o 'Origin' - of the Universe;

o 'Trigger' - for Big Bang;

o 'Characteristics' - of Planck-epoch; and -

o 'Primordial Cause' of - Time & Space, and Energy & Matter;

\- would perpetually continue to evade Modern Science.

Therefore, this Thesis hypothesises that - The only Path forward for ***Modern Science*** is to → '**Rediscover**' and Integrate - **Sānkhya's** - **Cosmic** "**Mind**", and the aspect of the - **pre-existing** "**Mind**"!

Sānkhya's - Three-fold - NATURE:
***The ultimate Unified* - "Theory of Everything".**

Once we have accepted Sānkhya's pre-existing "Mind"; It effectively means that we have accepted Sānkhya's Three-fold PRAKRITI or NATURE, i.e.: -

I. **SATTVA** - *Primary dimension of Nature; whose dominance forms* - **MIND**

II. **RAJAS** - *Secondary dimension of Nature; whose dominance forms* - **ENERGY**

III. **TAMAS** - *Final dimension of Nature; whose dominance forms* - **MATTER**

This Principal of Three-fold Nature, is Sānkhya's - **Unified "Theory of Everything" - TOI**. Sānkhya's - ***Sattva-Rajas-Tamas*** - **Guna-Trinity** - is as a matter of fact, fundamentally rooted in the - Vaidic - Triadic- Ajā - **अजा - लोहित-शुक्ल-कृष्णा.**

This Sattva-Rajas-Tamas - Guna-Trinity of Sānkhya, in-turn forms the very fundamental Foundation or Bed-rock of All the Vaidic, and many of the other Bhāratīya Philosophies; irrespective of whether they accept the Vedas and Sānkhya, or Not. Virtually All the All the Vaidic, and many other Bhāratīya - Philosophies and Scriptures - describe and classify the whole Universe and / or Mind - in terms of the - Sattva-Rajas-Tamas - Guna-Trinity.

✦✦✦

Vedic Literature: A Brief Survey

Prof. Shashi Tiwari (Retd.),

Sanskrit Department, Maitreyi College,
University of Delhi

The history of ancient Indian Literature may be classed under two main divisions- Vedic literature and Sanskrit literature. The former differs from the latter on the basis of contents and language. The Vedic literature is the oldest sacred literature of India, which is in the Vedic language. The later phase of this ancient language of India was stereotyped by the great grammarian Panini and then it came to be called Sanskrit, 'the refined' or 'elaborate', a term not used by old grammarians but occurring in the earliest epic Ramayana of Valmiki, popularly known as the first epic poetry (*Adi Kavya*) of the Sanskrit literature. Later on all the literature composed in the 'Sanskrit' is called as 'Classical Sanskrit Literature'. So as the oldest Indian literature and at the same time, the oldest Indo-European literary monument, a prominent place in the history of world literature is due to the Vedic Literature. Generally, the term 'Veda' is used for the core of Vedic literature.

1. Meaning of the 'Veda'

The word 'Veda' means 'knowledge' because it is derived from the Sanskrit root '*vid*' to know'. Then secondly, the term denotes works containing knowledge (*Vidya*), the most sacred and authoritative knowledge. Veda is therefore, a Book of Knowledge. The word 'Veda' does not refer to one single literary work, but indicates a whole great literature, which arose in the course of many centuries and has been handed down from one generation to another generation by verbal transmission.

'Veda' is also called 'Shruti' meaning what is heard, as opposed to what is composed, written or remembered. According to Indian traditional thoughts 'Veda' is regarded as revealed scripture, self-evident, and self authoritative. It is not composed by any human authors. The Vedic hymns (*Suktas*) or verses (*Mantras*) are seen and only spoken by the seers (*Rishis*). These seers are neither author of the Mantras nor are they responsible for

the contents of the Mantras. Yaska, the oldest expositor of Veda, has distinctly said that these seers received the sacred knowledge or knowledge was revealed itself to them, who handed it down to descendants by oral instruction. As opposed to the *Shruti*, there is *Smriti* literature or traditional works of human origin.

The great Vedic commentator Sayaṇa has given a definition of the Veda-

**'Ishtaprapti-anishtapariharyor-alaukikam-
upayam yo grantho vedayati sa vedah.'**

It means: The scripture, which describes the divine method for obtaining what is desirable and for giving up what is undesirable, is called Veda. This definition presents the purpose of the Veda.

According to another definition, 'the Veda is the name given to the Mantras and the Brahmaṇas'.

'Mantra-brahamanyor-vedanamadheyam.' (P.S.1)

This definition describes the form of the 'Veda' because it could be divided mainly into these two great divisions--the Mantras and the Brahmaṇas. Accordingly, Mantra part is the main part of the Veda and whatever is not Mantra is Brahmana. Here it is interesting to know that many ancient definitions of Veda, showing its significance, form or contents are given in ancient *Indian texts but there is no adequate definition of the Veda. Generally speaking the word 'Veda' signifies highest, sacred, eternal and divine knowledge as well as the works containing that knowledge.*

2. Importance of the Veda

The significance of the Veda is acknowledged due to many facts. Some of them are discussed here in brief:

1. The Veda is the earliest available literature of humanity. The antiquity of the Veda is beyond doubt. It contains the earliest recorded poetry and prose literature of the human race.
2. The Veda has been regarded as authoritative knowledge, mostly for the entire Indian thought and religion. Its authority is not to be questioned and it is the last tribunal in matters of dispute whether in religion or philosophy or social customs. The term '*Aastika*' is used for those systems of Indian philosophy, which have faith on the

authority of the Veda and the term '*Naastika*' is used for those systems of Indian philosophy which do not have faith on the authority of the Veda.

3. The religion and culture of the Hindus are rooted in the Veda. Till date, their worship, sacrifice, rites and attitudes are influenced by the Veda.
4. The Veda contains the highest spiritual knowledge (*Paravidya*) as well as the knowledge of the world (*Aparavidya*). We find here description of various aspects of the different subjects such as sciences, medicine, political science, psychology, agriculture, poetry, art, music etc.
5. The Veda is unique in its purity and sanctity. The text of the Veda is preserved in its pure and original form without any alteration or interpolation even after thousands of years. The Veda is the only unadulterated treasure house of true knowledge.
6. The Vedic language is marked by extreme economy of expression. Many times it seems to carry some deep hidden meanings indicating mystical truths. Often it makes symbolic impression. The wise men, from the immediate successors of the Vedic seers right down to our times, have searched for and discovered the revelation of the deepest truth in the Vedic texts differently. That is the reason many commentaries and reference- books are written by the ancient and modern scholars for understanding the Veda and the Vedic concepts. This vast reference material further establishes the importance of the Vedic texts.

3. Preservation of the Veda

Despite being oldest, the Vedas have been preserved in their true form up till now. F. Max Muller, a renowned European scholar, has admitted that, the text of the Vedas has been handed down to us with such accuracy and care that there is hardly any change in the words, or there is any uncertain aspect in the whole of Vedas. The credit for this goes to Vedic seers (*Rishis*) who devised means of protecting and preserving the text of Vedas letter by letter, with all their accessories. Vedic mantras have accents (*Swara*) which preserve its original form of word-construction.

There were eight ways i.e., *Vikritis* of memorizing Vedas. These are *Jatapatha, Malapatha, Shikhapatha, Rekhapatha, Dhvajapatha,*

Dandapatha, Rathapatha and Ghanapatha. Among them Ghana Patha is most difficult and the longest.

There are other three Pathas for memorizing Mantras most commonly known as:

1. *Samhita-Patha* - in which Mantra remains in its true form.
2. *Pada-Patha* - in which each word of a Mantra is separately spoken.
3. *Krama-Patha* - in which two words of a Mantra are spoken jointly as *Ka-kha, kha-ga.*

Another step was to prepare treatises known as *Anukraminis* in which the names of *Rishi, Devata, Chandas* are mentioned in reference to each hymn of the Vedas. Brahmanas and Vedangas have preserved the inner sense of the Vedic hymns. A.A. Macdonell has rightly observed in his '*History of Sanskrit Literature*' - 'since that remote time, the text of the Vedas has suffered no change whatsoever with such a care that history has nothing to compare with'.

4. Apaurusheyata of the Veda

As has been told earlier according to Hindu conception the Veda is not the creation of any human being. It is divine and only visualized by the ancient seers, and that is why it is called *Apaurusheya*. All other works or words of great luminaries fall under the category of *Paurusheya* and that is why they are known by their respective names. The Rigveda describes the Veda as eternal and *Apaurusheya*-

'Vachaa virupa nityataa' - Rigveda 8.76.6

Main systems of Indian philosophy such as Vedanta is worth-mentioning which states that 'Vedas are just like expiration (*Nihshvaasa*) of that great Brahman'. They are 'breathed out' by the Brahman. So the Veda is eternal just as Brahman is eternal. Even Brahman is not its creator; hence it is His expiration (breathing out).

5. Age of the Veda

No one now doubts that the Rigveda is the most ancient document of the human beings, but fixing the age of the Rigveda or the Veda is most difficult task. This issue has many problems, such as-

1. There is no outside evidence available as inscription, seals etc.
2. Dates are not mentioned in the Vedic texts.

3. The doctrine of '*Apaurusheyata*' proves the Veda as eternal.
4. Vedic astronomical accounts found in Vedas are not very clear.
5. View of the Indian and Western scholars differ on this subject.

On the question of the age of the Veda, the only source that remains is the literary evidence on which are based the so-called literary or linguistic theories. Other theories are based upon some assumptions which have yet to be proved conclusively. Max Muller has rightly exclaimed in his book '*Physical Religion*' (P.18), "Whether the Vedic hymns were composed in 1000 or 1500 or 2000 or 3000 year B.C., ***no power on each could ever fix."***

Certainly Vedic knowledge is beyond age and time as it is eternal and universal. When we talk of the age of the Vedas, we mean to determine the period of arrangement and composition of the main Vedic texts. Boghazkoi inscription (1400 B.C.) found in Asia Minor refers to four Vedic deities, so we may consider the latest limit of the Vedic age before 1400 B.C. But the final word has yet to be said on the age of the Vedas.

Here some of the important views held on the subject are presented briefly in a chart to show the complexity of the problem:

	Name of the scholar	Source	Age of the Vedas
1.	Swami Dayananda Sarswati	Veda-mantras	Beginning of the Creation
2.	Dinanath Shastri	Astronomy	3 lakhs years back
3.	AvinashChandraDas	Geology	25000 B.C.
4.	Balgangadhar Tilak	Astronomy	6000 B.C.
5.	R.G. Bhandarkar	Vedic- mantras	6000 B .C.
6.	Shankar Balkrishna Dikshit	Astronomy	3500 B.C.
7.	H. Jacobi	Astronomy	4500 B.C
8.	M. Winternitz	Boghazkoi	2500 B.C.
9.	F.Maxmuller	Buddhist Literature	1200 B.C.

We may conclude this issue with the words of Tilak:

"The traditions recorded in the Rigveda unmistakably point to a period not later than 4000 B.C., when the vernal equinox was in Orion.--- The period extending from 4000 B.C. to 2500 B.C. is the most important

period in the history of the Aryan civilization. A good many hymns in the Rigveda were composed at this period. This is the most active Vedic period. We can thus satisfactorily account for all the opinions and traditions current about the age of the Vedas amongst ancient and modern scholars in India and in Europe, if we place the Vedic period at about 4000 B.C., in strict accordance with the astronomical references and facts recorded in the ancient literature of India." -Tilak, *The Orion, Preface*, (p.3, p. 220).

6. Division of the Vedic Literature

'Veda' is a collective term indicating the four Vedas-

- Rigveda, Yajurveda, Samaveda and Atharvaveda.

On account of these four different Vedas, one often speaks of 'the Vedas' in the plural. Broadly speaking the whole of the Vedic literature can be put into two categories:-

1. The Vedas
2. The Vedangas

The four Vedas consist of four different classes of literary works. To each of these classes belongs a greater or a smaller number of separate works, of which some have been preserved in their true form but also many lost in time.

These four classes are:

1	Samhitas	collections, namely collections of hymns and Mantras
2	Brahmaṇas	voluminous prose texts, especially related to sacrificial rites and ceremonies
3	Araṇyakas	forest texts, which contain chiefly the meditations of forest-hermits and deal with mysticism of sacrifices
4	Upanishads	secret doctrines partly included in other Vedic texts and partly reckoned as independent works

SAMHITA LITERATURE

In Vedic Literature, first belong the Samhitas of the four Vedas:

1. Rigveda-Samhita, collection of the *Riks.*

2. Samaveda-Samhita, collection of the *Samans*.
3. Yajurveda-Samhita, collection of the *Yajush*. It has two versions- Shukla-Yajurveda-Samhita; and Krishna-Yajurveda-Samhita;
4. Atharvaveda-Samhita, collection of Mantras known as Atharvan.

Now we will talk about Vedic Samhitas in brief stating their nature, importance and contents.

1. Rigveda - Samhita

A. Nature and Importance:

The Rigveda-Samhita is the oldest and the most highly valued work of the Hindus. Usually, it is called the Rigveda . This Samhita (Collection) is unique in its nature. In fact, it is not a book, but a compilation composed of several books which can be individually distinguished from each other. The present from of this Samhita clearly indicates that the collection is not a single work, but consists of older and later elements. Various indications of language, style and ideas prove this point. Different hymns of this Samhita were composed long before they were systematically arranged. Being a compilation of different stages, there is something which stamps the Rigveda with an individuality of its own. It is much more natural in character and form than other Samhitas.

The Rigveda represents the earliest sacred book of India. It is oldest and biggest amongst all the four Vedas. All the features of Classical Sanskrit poetry can be traced to the Rigveda. In it we find the seeds of India's religious and philosophical development. Thus, both for its poetry and its religious and philosophical importance, the Rigveda should be studied by one who wants to understand Indian literature and spiritual culture. The value of the Rigveda today is not confined to India, for its well-preserved language and mythology have helped a better understanding of languages, literatures and cultures of a whole world.

B. Form and Division:

The whole of the Rigveda-Samhita is in form of verses, known as Rik. 'Rik' is the name given to those Mantras which are meant for the praise of the deities. Thus the collection (*Samhita*) of Riks is known as Rigveda-Samhita. Only one recession or school (*Shakha*) of the Rigveda is available today and it is the Shaakala. The Rigveda Samhita contains

about 10552 Mantras, classified into ten books called *Mandalas*. Each *Mandala* is divided into several sections called *Anuvakas*. Each *Anuvaka* consists of a number of hymns called *Suktas* and each *Sukta* is made up of a number of verses called *riks*. This division of the Rigveda is most popular and systematic. There are two ways of dividing the contents of the Rigveda, but today other division is uncommon among the students of the Veda.

A *Sukta* is a group of Mantras. The number of Mantras in a *Sukta* is not fixed. Some *Suktas* have a small number of Mantras while others have a large number of Mantras. It is important to note that every *Sukta* has a seer i.e. *Rishi*, a deity i.e. *Devata* and a metre i.e. *Chandas*. The Samhita of the Rigveda comprises 10 *Mandalas*, 85 *Anuvakas*, 1028 *Suktas* and 10552 Mantras. Usually *Anuvaka* is not mentioned for the reference of a Mantra of the Rigveda. For example RV 3.16.7 simply means the seventh Mantra of the sixteenth *Sukta* of the third *Mandala* of the Rigveda.

Through this chart we can know the division of Mandalas, number of *Suktas* in each *Mandala* and name of *Rishis* of some *Mandalas*.

Mandala	**Suktas**	**Mantras**	**Name of Rishis**
1	191	2006	Maducchanda,Medhatithi, Gotama and many others
2	43	429	Gritasamada and his family
3	62	617	Vishvamitra and his family
4	58	589	Vamadeva and his family
5	87	727	Atri and his family
6	75	765	Bhardvaja and his family
7	104	841	Vashistha and his family
8	103	1716	Kanva, Angira and their family
9	114	1108	Soma Devata but different Rishis
10	191	1754	Vimada, Indra, Shachi and many other
Total	1028	11552	

C. Some Important Hymns:

Among 1028 *Suktas* of the Rigveda Samhita some *suktas* are very popular in University courses. They are generally referred by the readers

of Vedas too. Some of them are:

1. Purusha Sukta
2. Hiranya-garbha Sukta
3. Dhana-anna-dana Sukta
4. Aksha Sukta
5. Nasadiya Sukta
6. Duhsvapna-nashna Sukta
7. Yama-yami-samvada Sukta

Besides, there are *Suktas* offered to different deities, such as, Indra, Maruta, Varuna, Usha, Surya, Bhumi, Soma, Agni etc.

Thus we can briefly say about the contents of Rigveda that it has various subjects, which are narrated by Vedic seers poetically, philosophically or religiously.

2. Samaveda - Samhita

A. Nature and Importance:

The Samaveda is shortest of all the four Vedas. It is closely connected with the Rigveda. It is important to note that the Samhita of the Samaveda is an independent collection (Samhita), yet it has taken many verses, a large number indeed, from the Samhita of Rigveda. These verses are chiefly derived from the eighth and the ninth Mandalas of the Rigveda. The Samaveda is compiled exclusively for ritual application, for its verses are all meant to be chanted at the ceremonies of the Soma-sacrifice. In the ritualistic tradition, these verses are sung at those sacrifices in which Soma-juice with other ingredients is offered to various deities. The Samaveda is, therefore, specially intended for the *Udagata* priest, who chants psalms at the sacrificial ritual. Its stanzas assume their proper character of musical *samans* or chants only in the various song-books called Ganas.

Traditional the Vedas are spoken as '*Trayi*', the three fold knowledge because they deal with *Jnana, Bhakti* and *Karma*. The Rigveda underlines the path of Jnana or knowledge, the Yajurveda that of Karma or action and the Samaveda that of *Bhakti* or devotion. Among the four Vedas, the Samaveda is regarded as the foremost. In the Bhagavadgata, Lord Krishna has declared "Among the Vedas I am Samaveda"- *Vedanama Samavedosmi* (Gita, 10.22). It is the Veda of devotion basically. Here

Indra, Agni and Soma deities are mainly invoked and praised but most of the time these prayers seem to be the invocations for the Supreme Being. In the spiritual sense Soma represents All-pervading, Glorious Lord and Brahman, Who is attainable only through devotion and musical chanting. Thus major theme of the Samaveda can be regarded as worship and devotion (*Upasana*).

Samagana is considered the best way to please gods. Here hymns are mostly addressed to Agni, Soma and Indra. In this Veda the element of devotion predominates over all other aspects. By devotion, an aspirant achieves higher spirituality, grace of the gods, and merges with the cosmic reality.

B. Form and Division:

The term Saman means a 'chant' or 'melody' and it signifies the entire Samaveda-Samhita, because it is metrical composition set to music. According to the Jaiminiya Sutra - 'Melody is called Saman.'

-Gitishu saamakhya.

The Samaveda is the Veda of songs and chanting based on *Riks*. Element of melody is an essential feature of the Samaveda. Yaska has given the etymology of the word '*Saman*' as *Sam + Ma*, meaning '*measuring harmoniously with a Rik*'.

According to the ancient tradition, told by Patanjali, the Samaveda had 1000 recessions (*Shakhas*). But at present there are only three recessions. These are - *(1) Kauthuma, (2) Jaiminiya, (3) Ranayaniya*. But today, Kauthuma Shakha is known more prominently. The Samaveda-Samhita of Kauthumas, consists of two parts - the Purvarcika, and the Uttararcika. First part contains four parts:

1. Agneya - 114 verses for Agni
2. Aindra - 352 verses for Indra
3. Pavamana - 119 verses for Soma Pavamana
4. Aranya - 55 verses for Indra, Agni, Soma etc.

   (And Mahanamni Mantras -10)

This part consists of 650 verses.

The Uttararcika, the second part of the Samaveda-Samhita, consists total number of 1225 verses. So the total number of verses in the Samaveda-Samhita is 1875.

3. Yajurveda - Samhitas

A. Nature and Importance:

In its character Yajurveda is quite different from the two Samhitas mentioned above. It is principally in prose form. The word '*Yajush*' in the Yajurveda is explained variously. But one of its definitions says -

'Gadyatmako yajuh'.

A '*Yajuh*' is that which is in prose form'. Another definition - '*Yajur Yajate*' talks about its relation with the sacrifice (*Yajna*) because both the terms are derived from the root. '*Yaj*'.

The Yajurveda is more pronouncedly a ritual Veda for it is essentially a guide-book for the *Adhvaryu* priest who had to do practically all ritualistic works in a sacrifice. His works vary from the selection of a plot of land for the sacrificial altar down to offering oblations to the sacred fires. Just as the Samaveda- amhita is the song-book of the *Udgata* priest, so the Yajurveda-Samhitas are the prayer-books for the *Adhvaryu* priest. It is solely meant for the purposes of sacrificial rituals.

The Yajurveda is also important for its presentation of philosophical doctrines. It preaches the concept of *Prana* and *Manas* also. Many times, it is quoted for depicting religious and social life of the Vedic people. It is also known for giving certain geographical data.

B. Division and Samhitas:

The Yajurveda is two-fold-

1. The White (or Pure) Yajurveda
2. The Black (or Dark) Yajurveda

The Shukla Yajurveda is related with the Aditya-school and the Krishna Yajurveda is related with the Brahma-school. In the beginning of his commentary on the Shukla-Yajurveda Samhita, a story is given by Mahidhara, about the two-fold division of the Yajurveda. Rishi Vaishampayana taught the Yajurveda to Rishi Yajyavalkya and other pupils. Once Vaishampayana got angry with Yajyavalkya and asked him to give back what he had learnt. Yajyavalkya vomited the Veda by the power of Yoga, while the other pupils at the command of his teacher swallowed up the *Yajush* thus vomited, assuming the form of birds called Tittiri. Thus, the *Yajush* became dark and was named Kishna or Taittiriya. Then

Yajyavalkya prayed to the Sun, who came to him in the form of a horse i.e. *Vaji*) and gave him back the Yajush. Hence this Yajurveda was named Shukla or Vajasaneyi.

Today Sukla Yajurveda has two Samhitas and Krishna Yajurveda has four Sanhitas available:

(1)	Shukla Yajurveda	- 1. Madhyandina Samhita
		2. Kaṇva Samhtia
(2)	Krishna Yajurveda	- 1. Taittiriya Samhita
		2. Kathaka Samhita
		3. Kapishthala Samhita
		4. Maitrayaṇi Samhita

C. Contents :

We find detailed description of sacrifices in the Samhitas of Yajurveda. The Vajasaneyi-Samhita gives a vivid description of many important sacrifices such as - Darsha-purnamasa, Agnihotra, Somayaga, Chaturmasya, Agnihotra, Vajapeya, Ashvamedha, Sarva-medha, Brahma-yajya, Pitrimedha, Sautramani, and so on. For a general idea the contents can be divided into three sections. The first section comprises the *Darshapurnamasa*, the second section deals with the *Somayaga* and the third section comprises the *Agnicayanas*. The last section of the Vajasaneyi-Samhita contains the popular Ishavasya-Upanishad. It is important to know that the first eighteen Adhyayas of the Vajasaneyi-Samhita are completely given, word for word, and explained in the Shatapatha Brahmana of the white Yajurveda. On the basis of this point few scholars think that the last sections of this Samhita are of a later date.

4. Atharvaveda-Samhita

A. Nature and Importance:

The Veda of the Atharvan is the Atharvaveda. *Atharvan* denotes directions and Mantras especially in connection to ward off evil and hardship. '*Atharvan*' originally means 'priest' and the Mantras in the Atharvaveda-Samhita were brought to light by Rishi Atharva.

According to the etymology of the Nirukta, Atharvan is the name given to a stable-minded person who is immovably firm i.e., Yogi. We

also find a number of hymns in this Veda which describes Atman, Brahman and Brahma-Vidya. The oldest name, however, by which this Veda is known in Indian literature is 'Atharvangirasa-Veda', that is the 'Veda of the Atharvans and the Angiras'. Angiras too were a class of fire-worshippers. Some other names for the Atharvaveda are - *Angirasaveda, Kshatraveda, Bhaishajyaveda, Chhandoveda, Mahiveda* etc.

According to Patanjali, Atharvaveda had nine recessions or *Shakhas*, but the Samhita of the Atharvaveda is today available only in two recessions - the Shaunaka and the Paippalada. It is the Shaunaka-Samhita that is usually meant when the Atharvaveda is mentioned in ancient and modern literature. It is a collection of 730 hymns containing 5987 Mantras, divided into 20 books (*Kandas*). Some 1200 verses are derived from the Rigveda. About one sixth of the text of the Atharvaveda including two entire books (15 and 16) is written in prose, similar in style and language to the Brahmanas, the rest of the text is in poetic verses.

The pride of this Veda was Brahma *Ritvika* who used to supervise the process of *Yaga* or sacrifice. In sacrificial ceremonies he was supposed to know all the three Vedas, but usually he used to represent the Atharvaveda. Due to his association, the Atharvaveda is also named '*Brahmaveda*', the Veda of Brahma priest.

The Atharvaveda is the oldest literary monument of Indian medicine. It is believed to be the origin of Ayurveda, the Indian science of medicine. There are a series of Mantras related to cure various physical and mental diseases. Another class of hymns includes prayers for protection from the bite of snakes or injurious insects. We find mention and application of medicines and medicinal herbs. This feature distinguishes the Atharvaveda from the rest of the Vedas.

Philosophical portions of this Samhita present a fairly high development of metaphysical thought. The chief ideas of the Upanishads, the conception of a highest god as creator and preserver of the world (*Prajapati*), and even the ideas of an impersonal creative principle, besides a number of philosophical terms such as Brahman, *Tapas, Asat, Prana, Manas* must have been the common property of large circles - at the time when these hymns originated. Therefore, the study of the philosophical ideas, revealed in the Atharvaveda, is important to understand the development of Indian Philosophical thought.

Atharvaveda is the only Veda which is related to worldly happiness

and spiritual knowledge. Vedic commentator Sayaṇa has praised this for fulfilling both ends - this world and the other world. Further, it appears to be an interesting text for a general reader of the Vedic literature.

B. Contents:

The Atharvaveda is looked upon as the Veda of varied knowledge. It contains numerous Mantras, which according to their subject-matter, can be broadly divided into three categories: 1. Related to the cure of diseases and destruction of adverse forces. 2. Related to establish peace, protection, health, wealth, friendship and long life. 3. Related to the nature of Supreme Reality, time, death and immortality.

Bloomfield has divided the subject of Atharvaveda into many categories, such as *Bhashijya, Paushtika, Prayashchita, Rajkarma, Stikarma,Darshana, Kuntapa* etc. Here some Important and famous Suktas of Atharvaveda are listed to have a general view its subject:

1. Bhumi-Sūkta (12.1)
2. Brahmacharya-Sūkta (11.5)
3. Kala-Sūktas (11.53, 54)
4. Vivaha-Sūkta (14th Kanda)
5. Madhuvidya-Sūkta (9.1)
6. Samanasya-Sūkta (3.30)
7. Rohita-Sūkta (13.1-9)
8. Skambha-Sūkta (10.7)

So, the Atharvaveda is an encyclopedia of many subjects. It reflects the life of the Vedic people. Their thoughts related to philosophical, social, educational, political, agricultural, scientific and medical matters are found in this Samhita.

Finally, we can say that the Samhita literature of Veda is considered important for its nature, form and contents. This is the main part of Vedic literature consisting five famous Samhitas.

✦✦✦

BOOK REVIEW

By Prof. Soma Basu, Rabibdra Bharati University, Kolkata.

Vedic and Indo-European Studies. Nicholas Kazanas, Aditya Prakashan, New Delhi, 2015, xxxiii, 380, abbr., bibl., index.

The book under review is a volume of erudite essays from the pen of Dr Nicholas Kazanas, the Director of Omilos Meleton Cultural Institute in Athens, Greece, on Vedic and Indo-European subjects. A most inspiring fact is the vast range which the work commands, a feature which makes it truly unparalleled. This involves a penetrating deliberation of many controlling principles of Indo-Aryan linguistics and a few other concepts on religion, the Veda, the plant Soma, the concept of *Tad Ekam*, the One Primal Power and the issue of indegenism. The Aryan Immigration/ Invasion Theory (AIT) has found an intellectual exploration of a very high order in this volume (and in many other writings of the author). What is noticeable throughout is a powerful and erudite approach to the whole subject.

The author is too well known in the area of Indology/Sanskrit to need an introduction and has various publications in Greek and English, in Indian and international Journals, which have been widely appreciated.

The present book is very important in that it brings out a totally new perspective on the ancient Indic/Vedic period while dealing with common subjects in both areas of Vedic and Indo-European studies.

Its main importance lies in the unorthodox conclusions that diverge from mainstream, usually mechanical, thinking: these follow facts rather than conjectures and reasoning rather than repetition. All this is evident in the papers, except 7 and 9 which do not deal with the AIT. They were all written during the decade 2003-2013 and **present the definite linguistic evidences** that Vedic is the oldest Indo-European language and closest to the parent Proto-Indo-European (PIE); also that the ancient Indians or Indo-Aryans, as they are termed by Westerners, are, in fact, indigenous by the fourth millennium. This knocks down the prevalent notion of the Aryan Invasion/Immigration Theory that has bedevilled Indic studies since the middle of the 19^{th} century.

To present an idea of the vast range that the book contains I give here the articles as follows : 1. Sanskrit and Proto-Indo-European, 2. Coherence and Preservation in Sanskrit, 3. Rigvedic All-comprehensiveness, 4. Vedic and Avestan, 5. Indo-European Isoglosses : what they (don't) show us, 6. Language, the Cyclicity Theory and the Sanskrit Dhātus, 7. Archaic Greece and the Veda, 8. Shamans, Religion, Soma and the *Ṛgveda*, 9. *Tad Ekam*: not female not male.

A thorough reading of the *RV* demands new approaches, other than the many preconceived notions: the most important is the rebuttal of the AIT in its current forms, and the adoption of indigenism. A new date of the *RV* may be assigned as early as the 4th millennium BCE. That the Harappan Civilisation is post Rgvedic is pointedly shown by examining that culture as expressive of the Yajurveda and the Brahmanas. The author's very learned treatment of the conceptual basis underlying the dismissal of the AIT and the adoption of indegenism is very clear in his approach. "The native Vedic Tradition has never known of a foreign invasion prior to that of the Persians in the 6th century BCE. Now, since the late 1990's, this Invasion Theory became Immigration (or Migration or whatever)àthere had been no invasion, no violence, no conquestàTo these have been added geneticists who, since the early 2000's, aver with certitude that there has been no significant inflow of foreign genes into the Subcontinent....", thus observes the author in his first editorial of the journal *Vedic Venues* (Volume 1, 2012, pp.viii ff).

The merits of the approach are apparent throughout all the articles of the present book. A large number of notions about the PIE languages such as Hittite as older than Vedic Sanskrit need to be scrapped or thoroughly revised, while we must re-examine radically the theories about language and a new start be made with the IE tongues having the Vedic language as the basis. Research should really be emphasized on the Sanskrit root forms and their development into verbal forms, nouns, adjectives etc.

Same is the case with religion, the beginning of which has to be searched in the RV, a thorough study of the bulk of which dismisses current notions. It really gives us the idea of a Supreme Being, *Tad Ekam*, which is neither male nor female, but is both transcendental and immanent, and from which descended other forms of religion embracing ritual, myth and superstition. It leaves out the much discussed crude animism and naturalism yet accommodates the Sky-father-god and a Mother-earth-goddess. Several hymns of the RV declare that all deities are expressions of that Primal

Power *ekam sad viprah bahudha vadanty agnim yamam matarisvanam ahuh* (1. 164. 4)

Man himself is a species and was created perfect with the limitations of his material embodiment. The Bible and many other traditions affirm the idea of the long process of man's evolution through many animal forms. This 'beatific unity' of man is lost over the period of time during which he conceived of language, law and religion and according to the author, these were the instruments which aided man's return to that primal unity and he believes that the concepts now fragmentarily found must have been complete and perfect right at the dawn of civilization. The conclusion that homo sapiens sapiens came to exist 'fully equipped with knowledge of himself and of the cosmos in complete harmony if not unity with the cosmos' shows the author's deep knowledge and empathy with the Vedic tradition.

The book begins with an introduction on aspects of scholarship. This itself demolishes the fictional basis of the persistent AIT which was put out by scholars long before Max Mueller's *History of Ancient Sanskrit Literature* (1859), which offered a conjectural theory about the age of the Vedic literature. Later the comparative studies of Greek as well as Germanic mythology, philosophy, grammar and linguistics.

Chapters 1 and 2 respectively have "Sanskrit and proto Indo-European" and "Coherence and Preservation in Sanskrit" as their theme. The latter promotes the same theme from an entirely different angle. Chapter 1 examines several aspects of Old Indic and argues that on this evidence, the rationale of IE comparative linguistics is wrong and needs thorough reconsideration. The discussion focuses on the stem for man, (Skt. *nṛ/ naṛ*), the ablaut system which is formed in a full and logical form only in Sanskrit, the family of retroflex i.e., *mūrdhanya* sounds (*ṛ/ṭ/ṭh/ḍ/ḍh/ṇ/r*) in Sanskrit and other topics. In chapter 2, more than 400 IE lexical items, i.e., nouns, verbs etc. occurring in the IE branches are being examined. Unlike Germanic, Greek, Latin etc. Sanskrit has many words like *dūhita* etc. which have root-nouns, adjectives and verbal forms indicating the richness of Sanskrit in preserving a much larger stock and being by far the most archaic and evidently faithful branch of PIE.

"Rigvedic All-comprehensiveness", the third study, reinforces the same conclusion that the RV and its language contain most elements found in one or two of the other branches, e.g., Periphrastic Perfect (formed

with the accusative of a feminine noun made from the verbal stem and with the perfect of *kr* ‘to do’ as auxiliary, which has as auxiliary also the verb *as-/ah* ‘to be’ and *bhū* ‘to become’) is present in Vedic, Avestan and Hittite but not in ancient Greek or Latin; then, both strict metre present in Greek but not in Germanic and alliteration present in Germanic but not in Greek are features found in Rigvedic hymns.

The conclusion (expanded very considerably in the next ch 4) that the *Avesta* is post-Rigvedic and the Avestan language is obviously full of losses, attritions and mutations nullifies the prevalent mainstream beliefs to the contrary. The author is to be admired for his most intense and valuable contribution and the novel direction provided for new, authentic research. The migration of the Iranians out of the wider Saptasindhu to Bactria/Gandhara, then to South-East Iran and then N-Westward is another commendable conclusion of the learned author contrary to mainstream beliefs.

The extensive study of the IE isoglosses in the fifth chapter is also instrumental in knocking down the mainstream view of the AIT. By examining numerous Indo-European isoglosses the author establishes yet again the indegenist position against the AIT.

Chapter 7 presents parallels between the Greek culture and the Vedic tradition which refer to other IE peoples by using philological considerations wherever possible. The author’s unique combination of profound scholarship with the power of interpretation along with using comparisons with other languages, which give lasting and vivid impressions to the readers, can be seen through all the pages of the book.

The 8th chapter (published for the first time here) begins with the curious view of writer G. Hancock (2005) that all religion, including the Vedic one, has been produced by drug induced experiences like those of the known shamans. Kazanas refutes this notion of "the non-ordinary drug-induced experiences" as applying to the Vedas by marshalling diverse evidences from the Rigveda. This remarkable paper deals with Vedic religion and Soma, the *amanita muscaria* or fly agaric, as the mushroom is called, from which the Soma drink of the RV may have been extracted. Following the observation that nowhere is soma said to have roots, leaves or fruit of any kind the author seems pretty certain about the mushroom. He finds serious faults in the approaches of other scholars, like Mircea Eliade and John Brough and others and, of course, the writer Hancock. He examines also defective ideas current in Anthropology in the very

beginning. His arguments and evidences for attaining higher states of consciousness by adherence to ethical principles and simple practices of meditation, reflection, focusing of attention and the like, are most convincing. He further argues that people resorted to devolved or degenerated shamanist practices "after they had lost the ability and knowledge how to attain higher states through ethical practices, attention etc". He, however, is in favour of further exploration than jumping to hasty conclusions.

And chapter 9 is a new addition arguing with much evidence from the Rigveda and from many places and periods that the original state of religion was one in which all deities are expressions of a Primal Power, itself unmanifest, neither male nor female, contrary to the widely held beliefs of polytheism or of a supreme male Fathergod or a female Mother Goddess.

All the nine studies contained in the volume have for their starting point the Rigveda, and therefrom penetrate into the horizons of Anthropology, History, Linguistics, Philosophy, Poetry and Religion examining one or other aspect from a new perspective and leading to the authorÆs own conclusions, so rightly established. In chapter 4 he shows Vedic is to be more archaic than even the older parts (*gathas*) of the Avesta; and also it is most unlikely that the Indoaryans moved away from a putative common Indo-Iranian habitat in ancient Iran into the Region of the Seven Rivers. Rather it was the Iranians who broke off and eventually settled and spread west and north in ancient Persia. Most interestingly, the author takes cumulative evidences from different areas like vocabulary, proper names, poetic metres, grammar etc. He checks up hymns from the Rigveda either in their entirety, or by taking up individual stanzas or words to show their plain and unambiguous nature, which very few academics have been ready to take up. In the 1st essay he clarifies that "...the RV should now be placed firmly within the fourth millennium BC". Though he considers Ṛgvedic Sanskrit to be closer to PIE than any other branch he never accepts it as the IE mother-tongue. After much serious examination of the vowels in particular, and sounds in general, he does not find any practical purpose for reconstructing PIE and we get arguments and counter arguments in his dissection of the theme which none has done before.

The firm belief that he nourishes about the Vedic culture as being indigenous and most archaic must have its base in a deep-rooted study of the Ṛgveda in its all-comprehensiveness. Monotheism, absent from all

other IE branches, is a notable feature in the *RV*. Being a Greek, he himself shows competence in comparative mythology and linguistics.

The outstanding merit of the present work is its minutely bibliographical references and quotations from a good number of authorities/authors in the body of the book.

The present book is the result of a decade of study of the subject by a veteran language/Sanskrit scholar and is highly valuable for the elaborate treatment of all the topics it has touched upon. It is sure to have a wide appeal but its linguistics is difficult for the non-specialist.

The bibliography is quite extensive and runs into 23 pages (351-373pp.). The Index at the end (374-380pp.), also an exhaustive one, is extremely useful and enhances the value of the publication.

The book is attractively got up, printed and produced. For all the intrinsic merit of the work, its publisher seems to have taken full care, as this book contains no printer's errors with practically no misprint excepting *bha* in place of *jha* in page 22, Podeidon in page 277 and alitteration (?).

The present reviewer believes that such a book is an asset to the academic world and will serve as a model for similar studies and research. The author deserves our warm praise and reverence for this sumptuous and splendid study which is a valuable contribution to the Vedic and IE studies. On the whole the book provides fascinating reading, a rare experience and a genuine pleasure!

✦✦✦

गतांक से आगे–

List of Researches On Vedic Subjects Conducted by Different Universities/Institutions

S.No.	Name of Research Scholar	Tiltle of the Thesis	Name of University/Institution	Year
371.	श्री विद्याधर	A Study of Vedic Deities in Vedic and Epic Literature	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1979
372.	श्री यू.के. खुरियन	Concept of Priesthood in the Vedas	बी.एच.यू., वाराणसी	1979
373.	मधुबाला	उव्वट भाष्यकार के रूप में	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1979
374.	श्री रामजनक देव	वेदों में सोम सूक्त	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1979
375.	श्री युधवीर सिंह	A Study of Puranic Legends Concerning Vedic Deities	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1979
376.	मन्धीलिका गुप्ता	ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का एक समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1979
377.	श्री देहार्दराई वामन राव	शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के महीधर भाष्य का अध्ययन	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1979
378.	रोहिणी देशपाण्डे	सामवेद में स्त्री जीवन	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर	1979
379.	श्री एम.आर. बीरभद्रस्वामी	A Critical Study of Sāyanāchārya Commentary on Atharvaveda	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	1979
380.	श्री एस. के तिलक	Cultural Gleaning from the Brāhmanas Literature	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1979
381.	श्री कैलाशचन्द्र दवे	शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त निर्वचनों की मीमांसा	काशी विद्यापीठ, वराणसी	1979
382.	श्री कमलेश अग्रवाल	Culture as Depicted in the Upanisadas of Samveda	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1979
383.	रीता मेहता	उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म का स्वरूप	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1979
384.	श्री राम जानकी देइ	वेदों में सोमसूक्त	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1980

385.	श्री वसुन्धरा सुधाकर गान्धे	Semantics of Wrods Denoting Four Footed (Domestic) Animals in Vedic Literature	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1980
386.	श्री वनवारी त्रिपाठी	ऋग्वेदीय सायण भाष्य के सन्दर्भ में वैदिक सुबन्त व्युत्पत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1980
387.	श्री सीतानाथ देव	Sukla-Yajurveda : A Study	डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय, डिब्रूगढ़	1980
388.	शान्ती वागची	Studies in Satpatha Brāhmana	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1980
389.	अरुन्धती मधर	A Critical Study of the Chhandogyopaniṣad	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1980
390.	श्री कपिलदेव शुक्ला	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का आलोचनात्मक अध्ययन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1980
391.	श्री रोहित त्रिपाठी	वराह श्रौतसूत्र का परिशीलन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1980
392.	श्री वी.वी. सत्पुरकर	Ritual and Lore of the Mantras in the Grhakalpasūtra and Smṛti	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1980
393.	श्री जयदत्त उप्रेती	ऋग्वेद में इन्द्र	गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर	1981
394.	श्री देवनाथ पाठक	मैत्रायणी संहिता का अध्ययन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1981
395.	मधुभल्ला	अथर्ववेद में प्रकृति वर्णन : एक अध्ययन	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	1981
396.	सरोज दीक्षा	A Study of Etymologies of Aitareya and Taittiriya Brāhmaṇ	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1981
397.	मीनावेन पाठक	Taittiriyopanisad : A Study	एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा	1981
398.	श्री रामशंकर मुखोपाध्याय	ऐतरेय शाखा और शांखायन शाखा : कर्मकाण्ड का तुलनात्मक अध्ययन	वर्दवान विश्वविद्यालय, वर्दवान	1981

399.	श्री विक्रम कुमार	दयानन्दकृत संस्कार विधिः विवाहगृहाश्रमप्रकरणयोरध्ययनम्	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1981
400.	श्री वृजेन्द्र मिश्रा	पर्जन्य विद्या-समीक्षा	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	1982
401.	श्री राकेश चन्द्र	ऋग्वेद में निपात : एक अध्ययन	गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर	1982
402.	श्री ओंकार नाथ तिवारी	ऋग्वेद के दार्शनिक सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन	मगध विश्वविद्यालय, बोधगया	1982
403.	अल्का तुल्सयाम	ऋग्वेद के दशम मण्डल का परिशीलन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1982
404.	श्री बालचन्द्र झा	सामवेदे कर्मवाद-समीक्षा	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	1982
405.	श्री बालमुकुन्द अवस्थी	अथर्ववैदिक भारतीय जीवन	बी.एच.यू., वाराणसी	1982
406.	निवेदिता पन्त	अथर्ववेद का सामाजिक अध्ययन	कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल	1982
407.	श्री योगेन्द्र शर्मा	अथर्ववेद की दार्शनिक समीक्षा	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1982
408.	श्री रामपाल संच	अथर्ववेदीय ओषधियों एवं वनस्पतियों का अभिज्ञान	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1982
409.	श्री विश्वम्भर मिश्रा	ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की अवधारणा	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1982
410.	श्री नित्यानन्द शुक्ला	ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि-विचार	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1982
411.	श्री विशम्बर दास धवन	Study of Mysticism and Symbolism in the Aitareya and Taittiriya Aranyak	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1982
412.	श्री यमुना प्रसाद मिश्रा	उपनिषदों में योगतत्त्व	बी.एच.यू., वाराणसी	1982
413.	श्री रमेश चन्द्र मिश्रा	बृहदारण्यकोपनिषद् : एक समालोचनात्मक अध्ययन	बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर	1982

414.	श्री राधे श्याम शर्मा	Treatment of Vedic Deities in the Nirukta of Yāska	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1982
415.	श्री लाल बहादुर	शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1982
416.	श्री देवीदीन पाण्डेय	प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर	1982
417.	श्री उमेश प्रसाद सिंह	शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य एवं पाणिनीय व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1982
418.	श्री विजय कुमार शर्मा	Sociological Study of Srauta Ritual with Special Reference to Katyayan Srauta Sutra	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1982
419.	श्री आनन्द कुमार	वैदिक संहितानामालोके महर्षि दयानन्दीय त्रैतसिद्धान्तस्य पर्यालोचनम्	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1982
420.	श्री धर्मपाल	श्री दयानन्द का समीक्षात्मक अध्ययन	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1982
421.	प्रोमिला रानी दुआ	Concept of Varuṇ in the Vedic Literature	पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला	1983
422.	श्री मगत राम लंगायम	The Concept of Yajna in the Vedic Literature	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1983
423.	कृष्णा सैनी	Eschatology in Vedic Literature	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1983
424.	श्री ओम प्रकाश शर्मा	Savitā in the Vedic Literature	पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़	1983
425.	श्री विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी	अग्निचयन एक प्रतीक	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1983
426.	श्री राजनारायण राय	खिल सूक्तों का एक अध्ययन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1983
427.	सौभाग्यवती	ऋग्वेद और अथर्ववेद में आयी प्रतीकात्मक उक्तियाँ	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1983

428.	उषा शुक्ला	ऋग्वेद के आध्यात्मिक भाष्यों की समीक्षा	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1983
429.	पुष्पा देवी गोयल	ऋग्वेद के नवम मण्डल का समीक्षात्मक अध्ययन	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1983
430.	श्री आर.आर. मेंघट	A Critical Study of the Tenth Mandala of Rg-Veda	बी.एच.यू., वाराणसी	1983
431.	मैत्रेयी बारा	Sāyana's Sāmavedasyopakramanika : A Critical Exposition	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	1983
432.	खान प्रभा अग्रवाल	अथर्ववेद के लौकिक सूक्तों का अध्ययन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1983
433.	आशा चौहान	अथर्ववेद में प्रकृति का स्वरूप	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1983
434.	नीलिमा नारायण मोने	Santi Karamani in the Atharvaveda Tradition	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1983
435.	राज रानी	Symbolism in Brāhmaṇas	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1983
436.	अवधराज मिश्रा	कौषितकी ब्राह्मण का परिशीलन	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1983
437.	शैलजा माल	उपनिषदों में प्राण	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1983
438.	जयदेव त्रिपाठी	उपनिषत्सु कर्मवादः	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	1983
439.	वीना रानी	उपनिषदों में प्राप्त निर्वचनों का अध्ययन	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1983
440.	शाम लता	A Critical and Comparative Study of the Commentaries of Bṛhdaraṇyakopaniṣad	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1983
441.	शारदा प्रसाद	याज्ञवल्क्य शिक्षा : एक आलोचनात्मक अध्ययन	अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद	1983
442.	सुभाष चन्द	A Critical Study of Bṛhad-Devata	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1983
443.	दावेश	श्रौत सूत्रों के मन्त्र : हवियज्ञों के विशेष सन्दर्भ में	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1983

444.	परमजीत कौर	दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य में सामाजिक एवं राजनैतिक संदर्भ : एक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1983
445.	स्वर्ण प्रभा	The Concept of Salvation and Ṛṣi Dayanand	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1983
446.	श्री गणेश दत्त भारद्वाज	Manas Tattva in the Vedic Literature	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1984
447.	रीता गर्ग	ऋग्वेद के सूक्तों का विशेष अध्ययन	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1984
448.	योग माया	ऋग्वेद में गौ तत्त्व	कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर	1984
449.	सुमेधा मित्र	ऋग्वेद के पंचम मण्डल का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1984
450.	दलीप जयश्री साठे	Gautam's Contribution to the Griha Ritual of the Sāmveda	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1984
451.	श्री राजिन्द्र प्रसाद कश्यप	अथर्ववेद कालीन भारत का भौगोलिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1984
452.	श्री ओम शंकर मिश्रा	अथर्ववेद में आयुर्वेद	कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर	1984
453.	पद्मिनी नाथू	अथर्ववेदीय भैषज्य विज्ञान	बी.एच.यू., वाराणसी	1984
454.	श्री आलोक नारायन सिंह	उपनिषदों में आयुर्वेदिक सामग्री का विवेचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1984
455.	श्री एस.आर. मेहता	A Critical Study of Kausitaki and Brhadaranyako-panisad with its available commentaries	सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट	1984
456.	श्री तुलसी राम	A Study of the Contribution in Saunaka to the Vedic Literature	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1985
457.	विद्यावती	वेदों में नारी	मगध विश्वविद्यालय, बोधगया	1985

458.	सुवीमल भग	Ṛg Veda Some Sacrifice	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1985
459.	श्री नारायन दत्त शर्मा	यजुर्वेद में अग्निष्टोम यज्ञ एवं उसका स्थान	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1985
460.	माला पंकज	A Critical Study of Soma. Its origin in Practice and Theory	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1985
461.	श्री रायदास हरीदास	ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त आख्यानों का समालोचनात्मक अध्ययन	रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर	1985
462.	श्री जगत बहादुर सिंह	ऐतरेय ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन	हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर	1985
463.	सुकेशी रानी गुप्ता	शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध तद्धितों का विवेचन	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1985
464.	श्री सुधांशु मोहन राय	A Study of the Ayurveda in the Satpatha Brahamana	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	1985
465.	माधवी भास्कर कोल्हाथर	A Ritualistic Study of Sautrāmani Sacrifice	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	1985
466.	श्री रवि कुमार	A Critical Study of Viṣṇu Dharma Sutra	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1985
467.	श्री चन्द्रशेखर त्रिपाठी	पारस्कर गृह्यसूत्र का परिशीलन	अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद	1985
468.	श्री धर्मदेव	गृहसूत्रों के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्दीय संस्कार विधि का एक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1985
469.	श्री वेदपाल वर्णी	माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण पर दयानन्द के यजु-भाष्य का तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1985
470.	प्रतिभा रानी	वैदिक संहिताओं में आचार-मीमांसा	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1986
471.	मूर्ती रानी सदाशिव	Vedic Prosody : Its Nature, Origin and Development	आन्ध्रप्रदेश विश्वविद्यालय, विशाखापट्टनम्	1986
472.	श्री राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	पदपाठ की वैज्ञानिक विवेचना	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	1986

473.	रन्जनी बिलोलीकर	R̥gVeda Mantras in Purānic Setting	उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद	1986
474.	सिनीधनम सुदर्शन शर्मा	Plants in Yajurveda	आन्ध्रप्रदेश विश्वविद्यालय, विशाखापट्टनम्	1986
475.	श्री रूप किशोर	सामवेदीय ब्राह्मणों का दार्शनिक अध्ययन	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1986
476.	उषा ग्रोवर	A Critical Study of Pratikavāda in the Araṇyakas and their Impacts on the Upniṣads	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1986
477.	वसुन्धरा सूद	Vedic Devatā with Special Reference to Maharṣi Dayanand's Commentary on Yajurveda	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1986
478.	श्री ललिता प्रसाद मिश्रा	वैदिक साहित्य में मनस् रोग की अवधारणा	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
479.	श्री राणा प्रवीण सिंह	Ancient Indian Economy with Special Reference to Vedic Literature	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1987
480.	श्री देव राज शर्मा	Four Castes in Vedic Literature : An Analytical Study	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1987
481.	श्री तुलसीदास मुखोपाध्याय	ऋग्वेदे : गौण देवता	वर्दवान विश्वविद्यालय, वर्दवान	1987
482.	श्री भक्तवत्सल शर्मा	ऋग्वैदिक काव्य-समीक्षा के सिद्धान्त	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1987
483.	श्री पुरुषोत्तम श्रीवास्तव	ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का व्याकरण-शास्त्रीय अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
484.	विमला देवी	ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल का सांस्कृतिक तथा आयुर्वेदिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
485.	तारा देवी	तैत्तिरीयोपनिषद् : आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
486.	श्री राम नारायण तिवारी	छान्दोग्योपनिषद् : एक आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
487.	श्री बाल गोपाल कृष्ण	A Critical Study of Nighaṇtu	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	1987

488.	नलिनी देवी मिश्रा	Yaska's Nirukta : A Comparative Study	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	1987
489.	श्री जय प्रकाश पाण्डेय	शिक्षा-ग्रन्थों में वर्ण विज्ञान	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
490.	श्री सुदर्शन सिंह यादव	व्यास शिक्षा : एक आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
491.	श्री कृष्ण कुमार शर्मा	सामगान का अध्ययन, अतिरात्र और उसके कर्मकाण्डों के विशेष सन्दर्भ में	मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ	1987
492.	साधना बरनवाल	गृह्यसूत्रों में आयुर्वेदिक सामग्री	बी.एच.यू., वाराणसी	1987
493.	श्री कन्हैया लाल पाराशर	वैदिक वाङ्मय में पाप पुण्य मीमांसा	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1988
494.	मालती शर्मा	वैदिक संहिताओं में नारी	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
495.	श्री सोम देव	वैदिक संहिता पाठ एवं पदपाठों का विश्लेषण, मूल्यांकन	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1988
496.	श्री उयचन्द्र वन्द्योपाध्याय	The First Mandal of Ṛg Veda. A Textual Study	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1988
497.	श्री योगेन्द्र दूबे	ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
498.	श्री थांगसोखचान जरुमेथे	A Critical Study of the Seventh Maṇḍala of the ṚgVeda	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
499.	श्री कौशल किशोर द्विवेदी	ऋग्वेद के अष्टम मण्डल का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
500.	गिरिराज किशोरी	अथर्ववेद में द्रव्यगुण	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
501.	श्री नगीना सिंह यादव	ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का तुलनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
502.	श्री महेन्द्र प्रताप यादव	ऐतरेय ब्राह्मण में चित्रित समाज	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
503.	श्री महेन्द्र पाण्डेय	शतपथ ब्राह्मणस्य नीत्युक्तिनाम् समीक्षात्मकम् अध्ययनम्	बी.एच.यू., वाराणसी	1988
504.	सावित्री देवी पराशर	शतपथ ब्राह्मण के प्रतीक : एक विवेचनात्मक अध्ययन	रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली	1988

505.	श्री शेखर दत्त शर्मा	ताण्ड्य ब्राह्मण यज्ञों का समाजशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1988
506.	दीधिती विश्वास	A Critical Study of the Araṇyakas	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1988
507.	जयश्री	A Study of Various Vidyas in the Upniṣadas	उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद	1988
508.	श्री आशा राम त्रिपाठी	शिक्षा ग्रन्थों में संगीत तत्व	बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी	1988
509.	कर्णा देवी आर्या	गृह्यसूत्रों में प्रतिबिम्बित लोक संस्कृति	रोहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली	1988
510.	श्री चितरंजन दयाल सिंह	दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में इन्द्र एवं मरुत् का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1988
511.	श्री सत्येन्द्र तिवारी	वैदिक साहित्य में प्रतिपादित विवाह संस्कार	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
512.	शीला दाया	ऋग्वेद एवं अथर्ववेद का तुलनात्मक अर्थ वैज्ञानिक अध्ययन : सामाजिक सम्बन्धवाची शब्दों के सन्दर्भ में	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1989
513.	कमला	ऋग्वेद में नारी : एक विवेचनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1989
514.	श्री विक्रमादित्य मिश्रा	ऋक्सर्वानुक्रमणी का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
515.	श्री श्यामनारायन सिंह	ऋग्वेद में कृषि कर्म की समीक्षा	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
516.	श्री प्रमोद त्रिगुणायत	ऋग्वेद में तृतीय मण्डल का सांस्कृतिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
517.	श्री जे.एन. चतुर्वेदी	ऋग्वेद के दशम मण्डल में चित्रित समाज	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
518.	श्री प्रतुअंग तिनारत्ला	A Critical Study of the Tenth Maṇdala of ṚgVeda	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
519.	शशि श्रीवास्तव	शुक्ल-यजुर्वेद में प्राप्त आयुर्वेदिक तत्त्वों का विवेचन	बी.एच.यू., वाराणसी	1989

520.	श्री कृष्ण भट्टाचार्य	Studies of Atharvaveda with Particular Reference to Non-Secular Hymns	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	1989
521.	श्री सुशान्त कुमार चक्रवर्ती	A Study of Atharvaveda as the Source Book of the Gṛha Ritual	रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1989
522.	उषा शर्मा	यजुर्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1989
523.	श्री रमेश चन्द्र सिंह	गोपथ ब्राह्मण का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
524.	आशा रानी	उपनिषदों में योजना का स्वरूप	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1989
525.	मंजू सिंह	बृहदारण्यकोपनिषद् में चित्रित समाज	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
526.	मेहरा सक्सेना	वैतान श्रौतसूत्र का आलोचनात्मक अध्ययन	रोहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली	1989
527.	श्री शैलेन्द्र कुमार राय	गोपथ ब्राह्मण में चित्रित समाज	बी.एच.यू., वाराणसी	1989
528.	श्री सच्चिदानन्द महापात्रा	Concept of Jātavedas in Vedic Litarature	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1990
529.	सुनीता मिश्रा	वैदिक संहिताओं में मनोदैहिक चिकित्सा	बी.एच.यू., वाराणसी	1990
530.	श्री सवाउता जयनर सिंह	वैदिक संहिताओं में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का समालोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1990
531.	छबीरानी दसमहापात्रा	A Comparative Study of ṚgVedic and Atharvavedic Society	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1990
532.	श्री खालिद सेन	ऋग्वेद में नीतितत्त्व	अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़	1990
533.	अर्चना शर्मा	ऋग्वेद में भैषज्य विज्ञान	बी.एच.यू., वाराणसी	1990

534.	श्री कृष्णमुरारी शर्मा	A Critical Study of the ṚgVeda Mysticism	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1990
535.	श्री घुमरी सिंह यादव	ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल का सांस्कृतिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1990
536.	सुमन सिंह	शतपथ ब्राह्मणकालीन भारत	बी.एच.यू., वाराणसी	1990
537.	मुन्नी सिंह	ऋग्वैदिक आरण्यकों का साहित्यिक एवं आयुर्वेदिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1990
538.	माधुरी श्रीवास्तव	ऐतरेयोपनिषद् का समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1990
539.	श्री सुकुमार चटोपाध्याय	A Critical Study of the Some Aspects of Nirukta	वर्दवान विश्वविद्यालय, वर्दवान	1990
540.	प्रेम बाला शर्मा	गृह्यसूत्रेषु संस्काराः	कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल	1990
541.	श्री रामकृष्ण लोकाल	महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रतिपादित आर्थिक विचारधारा	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1990
542.	श्री करम सिंह	दयानन्द वाङ्मय में षड्दर्शन विषयक सन्दर्भों का आलोचनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1990
543.	श्री आनन्द कुमार विरजा	महर्षि दयानन्द के ऋग्वैदिक भाष्य का यौगिक प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में एक अध्ययन	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1990
544.	श्री उदयमान	वेदाध्ययन में आर्यसमाज का योगदान	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1990
545.	राजवन्ती आर्या	वेद संहिताओं और मनुस्मति के राजधर्मो का तुलनात्मक अध्ययन	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1991
546.	मंजुला देवी	Viṣṇu as Depicted in the Vedic and Puranic Literature	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	1991
547.	श्री विनोद बिहारी शर्मा	जयपुर की वेदाध्ययन को देन 1699 ई. से शोध प्रबन्ध प्रस्तुति पर्यन्त	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	1991
548.	श्री नरेन्द्र प्रताप चौबे	ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में प्रतिपादित धर्म	बी.एच.यू., वाराणसी	1991

549.	कृष्णा राय	ऋग्वेद के दशम मण्डल का सांस्कृतिक एवं धार्मिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1991
550.	श्री गंगाप्रसाद विद्यार्थी	यजुर्वेद में लोकजीवन	रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर	1991
551.	गौरी घिल्डियाल	शुक्ल यजुर्वेद में भैषजीय जीवन	बी.एच.यू., वाराणसी	1991
552.	प्रतिभा	सामवेद : एक अध्ययन	जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू	1991
553.	श्री अन्नो दासंकर पहाड़ी	Myths and Legends in the Brāhmanas Literature : Origin and Development	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1991
554.	रीता भौमिक	A Socio-Cultural Study of the Jaiminiya Brāhmaṇa	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहटी	1991
555.	श्री गोविन्दराम वदोनी	प्रमुख उपनिषदों में आचार तत्त्व मीमांसा	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1991
556.	उषा यादव	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य एवं व्यास शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1991
557.	पुष्पा श्रीवास्तव	उपनयन संस्कार : प्रमुख गृहसूत्रों, स्मृतियों तथा स्वामी दयानन्दकृत संस्कार विधि के आधार पर एक अध्ययन	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1991
558.	किरणमयी	निरुक्त एवं उणादिकोष की शब्द-निष्पत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1991
559.	श्री जागेश्वर धर दीवान	वैदिक एवं वेदोत्तर साहित्य 12वीं शताब्दी पर्यन्त के आलोक में सरस्वती तत्त्व-अनुशीलन	घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर	1992
560.	श्री कुलजीत कपूर	संस्कृत साहित्य में शिव का स्वरूप एक पर्यालोचन : वेदो से प्रमुख पुराणों तक	पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला	1992
561.	कुसुम प्रदीप मर्ह	Yama in Vedas and Purāṇas : A Study	बी.एच.यू., वाराणसी	1992

562.	श्री रामवृक्ष ठाकुर	वैदिक मन्त्रों में गायत्री का महत्त्व : विशेषत: श्री रामशर्मा आचार्य की दृष्टि से	बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फपुर	1992
563.	योगी बन्दिता मधुसियासिनी	वैदिक वाङ्मय में प्रजापति	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1992
564.	उमाशर्मा	A Critical Study of the Seventh Mandala of the Ṛg-Veda with Reference to Seers, Deities and Meters	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1992
565.	श्री दयानन्द शर्मा	काण्व संहिता में वाक्य तत्त्व : शतपथ के परिप्रेक्ष्य में	हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	1992
566.	उर्वी	यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के प्रमुख आख्यानों का समीक्षात्मक अध्ययन	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1992
567.	रेखा चित्रवंशी	ऋग्वेदीय उपनिषदों का आलोचनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू. वाराणसी	1992
568.	श्री शक्तिधर शर्मा	उपनिषदों और गीता में योग तत्त्व : पतञ्जलि योग दर्शन के परिप्रेक्ष्य में	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1992
569.	श्री गंगाधर दुर्गा विझला वेंकट	A Study of the performance of Agnistoma According to Āndhra Tradition	आंध्रप्रदेश विश्वविद्यालय, विशाखापट्टनम्	1992
570.	दर्शना देवी	जीव, ईश्वर और प्रकृति : दयानन्द दर्शन के विशिष्ट सन्दर्भ में	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1992
571.	श्री श्रीकान्त मिश्रा	वैदिक साहित्य : साहित्यिक समीक्षा	रबीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता	1993
572.	श्री अशोक कुमार शर्मा	वैदिक संहिताओं की वनस्पतियाँ : आयुर्वेद के परिप्रेक्ष्य में	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1993
573.	श्री मदे तीतब	Sūrya in Veda and Balinese Literature	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1993
574.	श्री मुंशी प्रेमचन्द	Philosophical Reflections in ṚgVeda Legends	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1993
575.	श्री आर. रामकृष्ण	Topic of Scientific Interest in Kṛṣṇa Yajurveda	उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदाराबाद	1993

576.	श्री नरेन्द्र कुमार	तैत्तिरीय संहिता के आख्यान : एक समीक्षात्मक अध्ययन	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1993
577.	श्री बजरंग शंकर खराडे	A Critical Study of the Atharvaveda as the Veda of the Masses	शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर	1993
578.	श्री एन. मैना	The Philosophical Hymns of the Atharvaveda : A Critical Study	मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर	1993
579.	मंजुला गुप्ता	ब्राह्मण ग्रन्थों में नारी	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1993
580.	श्री सुधीर प्रसाद चौबे	बृहदाराण्यकोपनिषद् का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन	मगध विश्वविद्यालय, बोधगया	1993
581.	श्री सन्तोष कुमार पाण्डेय	कठ एवम् श्वेताश्वतरोपनिषद् का तुलनात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1993
582.	सुचित्रा महादेव परान्जपे	A Critical Study of the Jaiminiya Srauta Sutra	तिलक विश्वविद्यालय, पुणे	1993
583.	रेनुका गुप्ता	स्वामी दयानन्द एवं श्री अरविन्द की वैदिक व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार	1993
584.	श्री बलदेव राज	श्राद्ध प्रक्रिया : सूत्र साहित्य के सन्दर्भ में	हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	1995
585.	कान्तावर्धराजन	A Comparative Study of Upaniṣadas and Morle Sahatragih	मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई	1996
586.	श्री मनोहर लाल आर्य	यजुर्वेद भाष्य में आचार्य उव्वट, महीधर कृत निर्वचनों का तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	1996
587.	श्री बीरबल सिंह	Philosophy of Education in Vedic Literature	जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू	1997
588.	कृष्णा देवी	षड्गुरुशिष्य विरचित वेदार्थ दीपिका गत वैदिक आख्यान : एक समीक्षात्मक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	1997

589.	श्री सोमनाथ मुखोपाध्याय	सायण के ऋग्वेदभाष्य की मीमांसा	वर्दवान विश्वविद्यालय, वर्दवान	1997
590.	सुषमा देवी दीक्षित	अथर्ववेदीय ग्रन्थों में आरोग्यता	रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर	1997
591.	श्री वमरूंग कामेक	Cultural Study of the Atharvaveda Saṁhitā	बी.एच.यू., वाराणसी	1997
592.	श्री सुदेश कुमार शर्मा	अथर्ववेद के विशेष परिप्रेक्ष्य में मनुस्मृति का सांस्कृतिक अध्ययन	हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	1997
593.	श्री बुद्धेश्वर सारंगी	शतपथ ब्राह्मण कथानाम् साहित्यिक मूल्यांकनम्	श्रीजगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी	1997
594.	तूलिका रत्ना	तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राप्त निर्वचनों की समीक्षा	बी.एच.यू. वाराणसी	1997
595.	श्री बाबूराम	आरण्यकों में प्रतिबिम्बित धर्म और दर्शन	हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	1997
596.	पुष्पा गुप्ता	प्रधान उपनिषदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद) में प्रतिबिम्बित समाज और संस्कृति	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	1997
597.	सुनीता	एकादशोपनिषद् के क्रिया रूप : एक भाषिक अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	1997
598.	श्री रंजीत कुमार वर्मन	अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से बृहदाराण्यकोपनिषद् का समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	1997
599.	श्री टी. केशवन नारायन	A Comparative Study of the Commentaries of Sāyana and Dayānand on Asvamedhīya Puruṣa and Nāsadīya Sūkta	उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद	1997
600.	दीप्ति शर्मा	A Critical Study of ṚgVeda Female Deities with Special Reference to Sāyanā's Commentary on ṚgVeda	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	2000
601.	संजय देव	यजुर्वेद वाङ्मय में पर्यावरण	देवी आहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर	2000

602.	रेखा उपमा वर्मा	The Theosophic Hymns of the Atharva-Veda:A Study	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	2000
603.	श्री राकेश कुमार शर्मा	कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् : एक अध्ययन	हिमांचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	2000
604.	मुदिता तिवारी	ईशादि दशोपनिषदों में विद्या तत्त्व एवं प्रमुख विद्यायें : एक अध्ययन	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	2000
605.	श्री भास्कर शर्मा	अथर्व. प्रातिशाख्य चतुरध्यायिका का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2000
606.	श्री प्रणय गोपाल केलकर	The Secondary Application of Vedic Texts : A Study	पुणे विश्वविद्यालय, पुणे	2001
607.	जे. नन्दिता भट्टाचार्या	Literary Studies in the Principal Upaniṣadas	गुवाहाटी विश्वविद्यालय गुवाहाटी	2001
608.	श्री मुनीश	एकादशोपनिषदों के अन्तर्गत यजुर्वेदीय उपनिषदों के कृदन्त तथा तद्धित शब्दों का भाषिक विश्लेषण	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2001
609.	श्री रुद्रदत्त शर्मा	स्वामी दयानन्द का शिक्षा-दर्शन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2001
610.	श्री शिव आचार्या	Nation and Nationalism in the Vedic Literature:A Study	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	2002
611.	श्री सुभाष चन्द्र शुक्ला	वैदिक नारी का समाज शास्त्र	बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल	2002
612.	अन्नपूर्णा हेगड़े	Comparative Aspects of Sāvitri and Surya in Ṛg-Veda	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	2002
613.	उर्मी गौतम	वेंकटमाधव कृत ऋग्वेदानुक्रमणी : एक परिशीलन	रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली	2002
614.	श्री राम पाल	वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता का नीतिशास्त्रीय अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2002
615.	श्री विनय कुमार	Linguistic Study of Ṛg-Veda's Āranyakas	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2002
616.	माया गुप्ता	उपनिषदों में गुरु शिष्य-परम्परा : एक परिशीलन	महर्षि महेश योगी वैदिक वि.वि., जबलपुर	2002

617.	कमलेश	सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय उपनिषदों में प्रयुक्त कृदन्त एवं तद्धित प्रत्ययों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2002
618.	प्रियम्वदा पाठक	The Dialogue of Upniṣadas : A Study and Critique	वेरहमपुर विश्वविद्यालय, वेरहमपुर	2002
619.	सविता रंगनाथ कुलकर्णी	Saṁkara and Mādhava on the Kāthaka Upniṣad : A Comparative Study	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	2002
620.	अंजली डाली	The Sacred Thread Ceremony : A Critical and Analytical Study in Utkal	श्रीजगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी	2002
621.	श्री दीपक आनन्द	स्वामी दयानन्द सरस्वती का सामाजिक दर्शन	पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला	2002
622.	श्री गोपाल चन्द्र झा	वैदिक दृष्टि से पर्यावरण का समीक्षात्मक अध्ययन	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	2003
623.	गौर प्रतिहार	वैदिक देव भावनये सूर्यः	वर्दवान विश्वविद्यालय, वर्दवान	2003
624.	सुन्नी शर्मा	ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल का ऋषि देवता तथा छन्दों की दृष्टि का अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2003
625.	श्री धनपति तिवारी	ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में प्रतिपादित धर्म	बी.एच.यू., वाराणसी	2003
626.	श्री राजभाई प्रसाद	ऋग्वेद शाकल संहिता के दशम मण्डल में काव्य तत्त्व	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2003
627.	श्री चन्द्रमणि पाण्डेय	शुक्ल यजुर्वेदस्य माध्यन्दिन शाखीय मन्त्राणां स्मार्त यागेषु विनियोगः	बी.एच.यू., वाराणसी	2003
628.	मीनाक्षी उपाध्याय	यजुर्वेदीय माध्यन्दिन और तैत्तिरीय शाखओं के विशेष सन्दर्भ में दाक्षिण्य हविर्यज्ञ का आलोचनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2003
629.	वन्दना पाण्डेय	कौथुम संहिता का साहित्यिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	2003

630.	श्री सदन राम मुखोपाध्याय	अथर्ववेद संहितायाम् आत्म तत्त्व-अनुसन्धानम्	वर्दवान विश्वविद्यालय, वर्दवान	2003
631.	बबिता	ऐतरेय ब्राह्मण के क्रिया पदों का भाषिक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2003
632.	रन्जना पाण्डेय	शतपथ ब्राह्मण का साहित्यिक तथा दार्शनिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	2003
633.	श्री अनिल कुमार	गोपथ ब्राह्मण : एक अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2003
634.	श्री राजकुमार मिश्रा	गोपथ ब्राह्मण में प्राप्त निर्वचनों की मीमांसा	बी.एच.यू., वाराणसी	2003
635.	श्री बसन्त कुमार रोथ	एकादशोपनिषत्सु ब्रह्मविद्योपदेशकानाम् चरित-विमर्शः	राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली	2003
636.	श्री शिव निवास शर्मा	प्रमुख उपनिषदों में जीवन मूल्य	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2003
637.	श्री संजीव शर्मा	ऋग्वेदीय ऐतरेय उपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् का दार्शनिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2003
638.	श्री जितेन्द्र मिश्रा	निरुक्ते पाद निर्वचन विमर्शः	बी.एच.यू., वाराणसी	2003
639.	श्री एस.वी. शारदा रमानी	सामवेदीय गृह्य सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	2003
640.	अर्चना श्रीवास्तव	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का सांस्कृतिक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	2003
641.	सरिता	दयानन्द वाङ्मय में धर्म के स्वरूप का विवेचन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2003
642.	श्री शमशेर सिंह	भारत की सांस्कृतिक अस्मिता के संरक्षण में स्वामी दयानन्द का योगदान	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2003
643.	सुदेश कुमारी	स्वामी दयानन्द के वेद भाष्यों में अश्विन् देवों का स्वरूप	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2003
644.	श्री परमानन्द आर्य	वैदिक अध्यात्म का सन्त मत पर प्रभाव	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2004
645.	मुक्ता	वैदिक साहित्य में स्त्रियों का योगदान	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2004

646.	श्री व्रत ओजू	स्वामी सम्पूर्णानन्द का वेद व्याख्या परम्परा में योगदान : एक समीक्षात्मक अध्ययन	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	2004
647.	शालिनी सिंह	वैदिक संहिताओं में सोम : एक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	2004
648.	श्री नरसिम्हा सत्यनारायन भाट	Historical Compositions in Ṛg-Veda : A Critical Exposition	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	2004
649.	हेरम्ब पाण्डेय	A Critical Study of the Deity Savitā according to the Ṛg-Veda	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	2004
650.	श्री विष्णु कान्त सैदा	शुक्ल-यजुर्वेदीय परम्परा : दार्शनिक तथा व्यवहारिक अनुशीलन	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	2004
651.	विभा	तैत्तिरीयों की वेदानुशीलन-परम्परा का समीक्षात्मक अध्ययन	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	2004
652.	श्री पवन कुमार	अथर्ववेदीय विंश काण्ड : एक समीक्षात्मक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2004
653.	कल्पना कालिता	Mythology as Reflected in the Commentary of Sāyana on the Satpatha Brāhmana : A Study	गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी	2004
654.	श्री सुरेन्द्र कुमार यादव	ताण्ड्य महाब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2004
655.	श्री श्याम देव	गोपथ ब्राह्मण के क्रिया पदों का विश्लेषणात्मक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2004
656.	श्री मोहन आचार्य	यजुर्वेदान्तर्गत उपनिषदों में वैदिक कोष	श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी	2004
657.	शिक्षा रस्तोगी	The Philosophical Elements of Sām Vedīya Upniṣadas	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	2004
658.	विभा श्रीवास्तव	उपनिषद् वाङ्मय के आलोक में भारतीय शिक्षादर्शन	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	2004
659.	श्री कपिल शर्मा	छान्दोग्योपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन	वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली	2004

660.	श्री जगन्नाथ शर्मा	वाजपेय यज्ञ का समीक्षात्मक अनुशीलन	पंजाब विश्वविद्यालय, पंजाब	2004
661.	श्री हीरालाल शर्मा	आपस्तम्ब धर्मसूत्र : एक अनुशीलन	हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	2004
662.	श्री पंकज शर्मा	गौतम धर्मसूत्र तथा बौधायन धर्मसूत्र का तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2004
663.	श्री अश्वनी कुमार	वैदिक पवमान सोम सूक्त एक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2005
664.	माधवी द्विवेदी	वैदिक वाङ्मय में स्वाध्याय-विधि का समीक्षात्मक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2005
665.	श्री अनुलू आर.वी.एस. सुव्वावध	Aspects of Science and Technology in Veda and Śāstra	उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद	2005
666.	श्री सुभाष चन्द	ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का ऋषि, देवता तथा छन्द की दृष्टि से विवेचनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2005
667.	ख्यानी मन्थाकर	यजुर्वेद एवं सामवेद में राष्ट्रीय भावाभिव्यक्ति	जिवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर	2005
668.	श्री उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी	यजुर्वेद में पर्यावरण-समीक्षा	बी.एच.यू., वाराणसी	2005
669.	श्री धर्मवीर	शुक्ल यजुर्वेदीय भाष्यकारों का तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2005
670.	श्री वैह के.एम. महाडे	Upanisadic Sources of Vīraśaivism with Speical Reference to the Śvetasvetaropaniṣad	बंगलुरू विश्वविद्यालय, बंगलुरू	2005
671.	तोशी	निरुक्त के दैवतकाण्ड में आधारित मन्त्रों का अनुशीलनात्मक अध्ययन	वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली	2005
672.	श्री शैलेन्द्र नाथ दीक्षा	शौनक शिक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन	बी.एच.यू., वाराणसी	2005
673.	श्री धर्मपाल कुलरिया	Sulba Sūtras : A Critical Study	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2005

674.	श्री जितेन्द्र मेहेर	दयानन्द वाङ्मय में पुरुषार्थ चतुष्ट्य	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2005
675	श्री मनप्रीत कौर	कर्म विपाक : स्मृति तथा दयानन्द साहित्य के विशेष सन्दर्भ में	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2006
676.	श्री गोपाल कुमार झा	वैदिक कर्म विज्ञानस्य समीक्षात्मकमध्ययनम्	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	2007
677.	श्री शम्भू कुमार झा	वैदिक देवताओं का समीक्षात्मक अध्ययन	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	2007
678.	श्री अभय कुमार मिश्रा	वैदिक दृष्ट से भविष्य पुराण में वर्णित सूर्योपासना की समीक्षा	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्व-विद्यालय, दरभंगा	2007
679.	श्री राजेन्द्र मिश्रा	कर्मकाण्ड की दृष्टि से इन्द्र : एक परिशीलन	बी.एच.यू., वाराणसी	2007
680.	सीमा	वैदिक वाङ्मये सृष्टि उत्पत्ति	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2007
681.	कुमकुम सिंह	ऋग्वेद के युगल देवता : एक अध्ययन	रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली	2007
682.	रीना सिंह	ऋग्वेद में आरोग्य विज्ञान : मण्डल 6 से 10 तक	बी.एच.यू., वाराणसी	2007
683.	वनिता त्रिपाठी	उपमा अलंकारों की दृष्टि से ऋग्वेद के अग्नि सूक्तों का आलोचनात्मक अध्ययन	क्षत्रपति शाहूजी महाराज वि.वि., कानपुर	2007
684.	श्री मनुस्वामी सारणी	A Comparative Study of the Yajur-Vedic Siksha	उत्कल विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर	2007
685.	रश्मि	अथर्ववेद में अष्टांग आयुर्वेद - समीक्षात्मक अनुशीलन	क्षत्रपति शाहूजी महाराज वि.वि., कानपुर	2007
686.	नन्ही देवी	माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त कृदन्त क्रियापदों का तुलनात्मक अनुशीलन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2007

687.	श्री सखमीत सिंह भारत	औपनिषदिक दर्शन में आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक प्रत्ययों का विवेचन	देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर	2007
688.	श्री एम. श्रीनिवास	A Study of Ecology and Environment in Upaniṣadas	उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद	2007
689.	सुषमा वर्मा	औपनिषद शिक्षा के सिद्धान्त और वर्तमान शिक्षा : एक तुलनात्मक अध्ययन	क्षत्रपति शाहूजी महाराज वि.वि., कानपुर	2007
690.	मिनाती कुमारी मिश्रा	A Critical Study of Upāsanā in the Bṛhadāraṇyako-paniṣad	उत्कल विश्वविद्यालय, भुनेश्वर	2007
691.	अंजली गुप्ता	श्वेताश्वतरोपनिषद् में तत्त्व विज्ञान	क्षत्रपति शाहूजी महाराज वि.वि., कानपुर	2007
692.	शान्ती पोखरेल	Chhāndogyopaniṣad : A Critical Study	आसाम विश्वविद्यालय, सिलचर	2007
693.	श्री सत्य प्रकाश शुक्ला	वाजसनेयी प्रातिशाख्य एवं अष्टाध्यायी का तुलनात्मक अध्ययन	रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर	2007
694.	श्री अखिलरन्जन	A Study of The Rites for the Deceased in the Domestic School of Āśvalāyana	उत्कल विश्वविद्यालय, उत्कल	2007
695.	चन्द्र रेखा मिश्रा	गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कार आयुर्वेदिक दृष्टि	बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी	2007
696.	श्री सन्तोष कुमार	यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों का समीक्षात्मक अध्ययन	महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	2007
697.	कोयल शर्मा	दयानन्द साहित्य में उपलब्ध दार्शनिक सन्दर्भों का विवेचनात्मक अध्ययन	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़	2007
698.	श्री अशोक कुमार दास	A Study of the Interface between Vedic Thoughts and Modern Physics with reference to Creation of the Universe	आसाम विश्वविद्यालय, सिलचर	2008

699.	सरदामिनी दास	A Study of Vedic Gods : Naturalistic and Spiritual Interpretations	आसाम विश्वविद्यालय, सिलचर	2008
700.	अर्चना जयप्रकाश द्विवेदी	The Relevence of the Vedic Concept : A Study	सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट	2008
701.	शिक्षा शर्मा	A Study of the Feminine Space in Vedic Literature	आसाम विश्वविद्यालय, सिलचर	2008
702.	गार्गी ओझा	ऋग्वेद में तत्त्व विज्ञान	क्षत्रपति शाहूजी महाराज वि.वि., कानपुर	2008
703.	सुधा सिंह	ऋग्वेद में आरोग्य विज्ञान, मण्डल 1 से 5 तक	बी.एच.यू., वाराणसी	2008
704.	श्री सुनील कुमार मिश्रा	शुक्ल यजुर्वेद में अग्नि	बी.एच.यू., वाराणसी	2008
705.	सीमा	अथर्ववेद में विविध विद्यायें : एक अध्ययन	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	2008
706.	रश्मि सिंह	ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में प्रतिपादित धर्म एवं दर्शन	बी.एच.यू., वाराणसी	2008

(नोट–श्री प्रेमप्रकाश लाल, शोधार्थी वेद विभाग द्वारा संकलित)

डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी
पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग
Dr. Prabhu Nath Dwivedi
Ex.-Professor, Dept. of Sanskrit

॥श्रीः॥

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी - 221002 (भारत)
MAHATMA GANDHI KASHI VIDYAPITH
VARANASI-221002

पत्राङ्क/Letter No. ....

दिनाङ्क/Date : 02. 05. 2017

प्रिय प्रो. शास्त्री जी,

नमस्कार।

आप द्वारा प्रेषित 'वैदिक वाग्ज्योतिः' के दो अङ्क (षष्ठ एवं सप्तम) प्राप्त हुए। हार्दिक धन्यवाद।

पत्रिका प्रकाशन का आपका अध्यवसाय श्लाघ्य है। दोनों ही अङ्कों के लेखों का मैंने अध्ययन किया। लेख गम्भीर विवेचन से युक्त एवं प्रमाणपुष्ट हैं। इसीलिए पत्रिका का स्तर उत्कृष्ट है।

पत्रिका की गुणवत्ता तथा प्रकाशन का नैरन्तर्य बना रहे - यही मेरी शुभकामना है।

पत्रिका में प्रकाशनार्थ एक निबन्ध संलग्न कर भेज रहा हूँ। शीर्षक है - 'नाट्यविद्यायां वैदिकी भूमिका।'

भवदीय,
(हस्ताक्षर)

प्रतिष्ठा में,
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेदविभाग
एवं,
सम्पादक-'वैदिक वाग्ज्योतिः'
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार - 249404.

आवास : डी 65/421 पी एन 2, निर्मल नगर, फुलवरिया मार्ग, लहरतारा, वाराणसी - 221002 (भारत)
Resi. D 65/421 PN-2, Nirmal Nagar, Fulwaria Road, Lahartara, Varanasi-221002
Tel.: 0542-2373815, Mob. No.: (O) 9415291980, email : dr.p.n.dwivedi@gmail.com

MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY ROHTAK
(A State University established under Haryana Act No.XXV of 1975)
'A' Grade University Accredited by NAAC

No. Dean/17/ 58
Dated: 06.06.2017

To

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Chief Editor & HOD Veda
Gurukul Kangri University
Haridwar – 249404 (UK)

Respected Prof. Dinesh Ji

I have received the two volumes of newly published International Refereed Research Journals on Vedic Studies titled "Vaidika Vag Jyoti". I have gone through the volumes and congratulate you for this pursuit of academic excellence in the field of Vedic Studies. I would also like to contribute to this journal in near future.

With best wishes.

Yours sincerely

6/6/17
(Prof. Surendra Kumar)
Dean
Faculty of Humanities
M.D. University, Rohtak

Dean
Faculty Humanities
M.D. University, Rohtak

॥ ओ३म्॥

फाजिलका

04/07/2017

मान्य बन्धुवर,

सादर नमस्ते।

आपके द्वारा 02.05.2017 को प्रेषित जनवरी–जून 2016 एवं जुलाई–दिसम्बर 2016 के शोधात्मक अंक की दोनों प्रतियाँ एक साथ यथा समय प्राप्त हो गई थीं। एतदर्थ अनेकश: धन्यवाद।

उत्तर देने में पर्याप्त विलम्ब हो गया है क्योंकि स्थानीय विद्यालयों में आयोजित "वैदिक संस्कृति संरक्षण अभियान–2017" के कार्यक्रमों में अत्यधिक व्यस्त रहा। जिसके कारण तत्काल उत्तर न दे सका। इसके लिए अत्यन्त खेद है।

आपका सम्पादकीय–आर्ष दृष्टि के झरोखे से–"यजुर्वेद सम्बन्धी पुराणप्रोक्त याज्ञवल्क्य गाथा का तात्पर्य" अत्यन्त सटीक है। आपकी व्याख्या युक्तियुक्त, तर्कसंगत एवं ग्राह्य है। 'उगलना–उगलवाना' मुहावरे का दृष्टान्त बिल्कुल ठीक एवं अकाट्य है। पौराणिक अर्थ–'वमन' उल्टी करना अर्थ ग्राह्य नहीं हो सकता।

कृपया भविष्य में भी एतादृश पौराणिक आख्यानों की व्याख्या करके लाभान्वित करते रहें।

ध्यानाकर्षण–आपका ध्यान अग्रलिखित तथ्यों की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ–

1. जुलाई–दिसम्बर 2016 अंक, पृष्ठ–119, जन्मना जायते शूद्र: का पता डॉ. राकेश गिरि तथा जयदेव, जन्मेजय शोधार्थी ने लिखा है–अज्ञात। वस्तुत: इसका पता है–स्कन्दपुराण, नागर खण्ड–6, अध्याय–239, श्लोक–31
2. जनवरी–जून 2016 अंक, पृष्ठ–118, क्रमांक–28, मणिरत्नमाला–3 (द्वारं किमेकं नरकस्य नारी), इससे आपने सम्पादकीय असहमति तो प्रकट कर दी। परन्तु यह पृष्ठ–115 पर–'वह नारी को नरक का द्वार घोषित करते हैं।'30 लिखा हुआ है। अत: टिप्पणी में 28 के स्थान पर 30 होना चाहिए था। इस प्रकार 28, 30 में क्रम के सुधार की आवश्यकता है।
3. अंक जनवरी–जून 2016, पृष्ठ–76, डॉ. मीरा रानी रावत। 'करीष' के सम्बन्ध में वह लिखती हैं–"खेतों में प्राकृतिक खाद के रूप में जानवरों के गोबर का प्रयोग किया जाता था, जिसे 'करीष' कहते थे।" शतपथ ब्राह्मण 2/1/1/7

कृपया शतपथ ब्राह्मण देखकर स्पष्ट करने का कष्ट करें कि क्या 'करीष' का अर्थ गोबर है अथवा अनर्गल प्रलाप?*

क्योंकि लेखिका महोदया ने यहाँ पर 'करीष' का अर्थ गोबर किया है। जो उचित प्रतीत नहीं होता। 'गोबर' के लिए प्राचीन शब्द 'गोमय' है। द्रष्टव्य-करीष का अर्थ-

(क) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृष्ठ-301, सूखा गोबर, करीषाग्नि-कंडे या करसी की आग।

(ख) नालन्दा शब्द सागर-पृ.207-जंगल में सूखा हुआ गोबर, अरना, कंडा, वन कंडा।

(ग) भाषा शब्द कोष-पृष्ठ-346, जंगल में मिलने वाला सूखा गोबर, वन कंडा, अरना।

वस्तुतः करीष उसे कहते हैं जो पालतू जानवर गाय, भैंस जंगलों में चरने के लिए जाते हैं और वहाँ पर गोबर कर देते हैं, वह उसी स्थिति में पड़ा हुआ सूख जाता है। अनेक ग्रामीण उन्हें जलाने के लिए घर ले आते हैं। वह 'करीष' कहलाता है।

श्री स्वामी विवेकानन्द सरस्वती गुरुकुल प्रभात आश्रम मेरठ, वेदवाणी यज्ञ विशेषांक नवम्बर-2002 पृष्ठ-21 पर लिखते हैं-गोमय की करीष को भी समिधा के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।........ अरण्यवासी ऋषि, महर्षि उपले की समिधा का ही विशेष रूप से प्रयोग किया करते थे।

वैसे वास्तविकता यह है कि 'उपले' और 'कण्डे' हाथ से बनाए जाते हैं, जबकि 'करीष' पशुओं द्वारा गोबर किए जाने के पश्चात् स्वतः सूख जाते हैं। उन्हें उसी रूप में प्रयोग किया जाता है। 'करीष' के लिए अवधी भाषा में आज भी 'करसी' शब्द प्रचलित है।

प्राचीन काल में ऋषियों-मुनियों के पास भी गौएं हुआ करती थी। वे चरने के लिए जाती थीं। उनके द्वारा किया हुआ गोबर सूख जाता था। वे ऋषि-मुनि प्रयोगार्थ ले आते थे। वह करीष कहलाता था। सम्भवतः वही यज्ञार्थ एवं पाकशालार्थ प्रयोग किया जाता था। सायंकाल गौओं के घर आने पर रात्रि में जो गोबर इकट्ठा होता था, उसे खाद के रूप में प्रयोग किया जाता था। परन्तु उसे 'करीष' नहीं कहा जा सकता। अस्तु।

उत्तराकांक्षी

(वेदप्रकाश शास्त्री)

* शतपथ ब्राह्मण का मूल पाठ इसप्रकार है, जो कि लेखिका ने नहीं दिया है (केवल सन्दर्भ मात्र इंगित किया है)- 'पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै पुरीषं च करीषं च' (2/1/1/7) उक्त प्रमाण के आधार पर आप स्वयं अनुमान लगायें कि 'करीष' का अर्थ गोबर है या अनर्गल प्रलाप (सम्पा.)